मूल्य सवा दो रुपया

प्राप्ति-स्थान

शारदा-साहित्य-सदन,

दूधविनायक, बनारस।

प्रकाशक	मुद्रक
गोपालदास सुंदरदास	पी० घोष
साहित्य-सेवा-सदन, बनारस।	सरला प्रेस, बनारस।

वक्तव्य

'भ्रमरगीत' सूरसागर के भीतर का एक सार रत्न है। समग्र सूरसागर का कोई अच्छा संस्करण न होने के कारण 'सूर' के हृदय से निकली हुई अपूर्व रसधारा के भीतर प्रवेश करने का श्रम कम ही लोग उठाते हैं। मैंने सन् १९२० में भ्रमरगीत के अच्छे पद चुनकर इकट्ठे किए और उन्हें प्रकाशित करने का आयोजन किया। पर कई कारणों से उस समय पुस्तक प्रकाशित न हो सकी। छपे फार्म कई बरसों तक पड़े रहे। इतने दिनों पीछे आज 'भ्रमरगीत-सार' सहृदय-समाज के सामने रखा जाता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'सूरसागर' के जितने संस्करण उपलब्ध हैं उनमें से एक भी शुद्ध और ठिकाने से छपा हुआ नहीं है। सूर के पदों का ठीक पाठ मिलना एक मुश्किल बात हो रही है। 'वेंकटेश्वर प्रेस' का संस्करण अच्छा समझा जाता है पर उसमें पाठ की गड़बड़ी और भी अधिक है। उदाहरण के लिए दो पदों के टुकड़े दिए जाते हैं—

(क) अति मलीन वृषभानु-कुमारी।

अधोमुख रहति, उर्ध नहिं चितवति ज्यों गथ हारे थकित जुआरी ॥

(ख) मृग ज्यों सहत सहज सर दारुन, सन्मुख तें न टरै।

समुझि न परै कौन सचु पावत, जीवत जाय मरै ॥

ये इस प्रकार छपे हैं—

(क) अलि मलीन वृषभानुकुमारी।

अधोमुख रहत ऊरध नहिं चितवत ज्यों गथ हारे थकित जुथअरी॥

(ख) मग ज्यों सहत सहज सरदारन सनमुख तें न टरै।

समुझि न परै कवन सच पावत जीवत जाइ मरै॥

इस संग्रह में भ्रमरगीत के चुने हुए पद रखे गए हैं। पाठ, जहाँ तक हो सका है, शुद्ध किया गया है। कठिन शब्दों और वाक्यों के अर्थ फुटनोटमें दे दिए गए हैं। सूरदास जी पर एक आलोचनात्मक निबंध भी लगा दिया गया है, जिसमें उनकी विशेषताओं के अन्वेषण का कुछ प्रयत्न है।

गुरुधाम, काशी
श्रीपंचमी, १९८२

रामचन्द्र शुक्ल

विषय-क्रम सूची

१. वक्तव्य ... १—२

२. महाकवि सूरदासजी (आलोचना) १—७७

३. भ्रमरगीत-सार ... १—१५५

४. चूर्णिका (अंत में) १—१३

आमुख

ज्ञान की कोरी वचनावली और योग की थोथी साधनावली का यदि साधारण लोगों में विशेष प्रचार हो तो अव्यवस्था फैलने लगती है। निर्गुन-पंथ ईश्वर की सर्वव्यापकता, भेदभाव की शून्यता, सब मतों की एकता आदि लेकर बढ़ा जिस पर चलकर अपढ़ जनता ज्ञान की अनगढ़ बातों और योग के टेढ़े-मेढ़े अभ्यासों को ही सब कुछ मान बैठी तथा दंभ, अहंकार आदि दुर्वृत्तियों से उलझने लगी। ज्ञान का ककहरा भी न जानने वाले उसके पारंगत पंडितों से मुँहजोरी करने लगे। अज्ञान से जिनकी आँखें बंद थीं वे ज्ञानचक्षुओं को आँख दिखाने लगे—

बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह तें कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो बिप्रबर आँखि देखावहिं डाँटि॥

—'मानस'

जैसे तुलसी के 'मानस' में यह लोकविरोधी धारा खटकी वैसे ही सूर की आँखों में भी। तुलसी ने स्पष्ट शब्दों में और कड़ाई से इसका परिहार करने की ठानी। प्रबंध का क्षेत्र चुनने से उन्हें इसके लिए विस्तृत भूमि मिल गई। पर गीतों में सूर ने इसका प्रतिवाद प्रत्यक्ष नहीं, प्रच्छन्न रूप में किया। उन्होंने उद्धव-प्रसंग में 'भ्रमरगीत' के भीतर इसके लिए स्थान निकाला। उद्धव के योग एवं ज्ञान का जो प्रतिकार गोपियों ने 'सूरसागर' में किया वह सूर की ही योजना है। श्रीमद्भागवत में, जिसकी स्थूल कथा के आधार पर 'सूरसागर' रचा गया, यह विधान है ही नहीं। उद्धव के ब्रज जाने, उपदेश देने, भ्रमर के आने और उसे खरी-खोटी सुनाने का वृत्त तो वहाँ हैं पर गोपियों द्वारा ज्ञान या योग का विरोध नहीं। ब्रज में उद्धव का केवल स्वागत-सत्कार ही हुआ, फटकार की मार उन पर नहीं

पड़ी ।* अतः यह तत्कालीन उद्वेगजनक प्रवृत्ति ही थी जिसका उच्छेद करने के लिए सूर ने 'सागर' की ये उत्ताल तरंगें लहराईं। ज्ञान या योग की साधना भली न हो, सो नहीं। वस्तुतः वह कठिन है, सामान्य विद्या-बुद्धिवालों की पहुँच से परे है। पक्ष में उद्धव ऐसे ज्ञान-वरिष्ठ पुरुष और विपक्ष में व्रजवासिनी ऐसी ज्ञान-कनिष्ठ स्त्रियों को खड़ा करके सूर ने ज्ञान एवं योग का प्रतिरोध साधारण जनता की दृष्टि से किया। ज्ञान की ऊँची तत्त्वचिंता उनके लिए नहीं। ज्ञानयोग के प्रतिपक्ष में प्रेमयोग का मंडन करके यह प्रतिपन्न किया गया है कि भक्ति की भी वही चरमावधि है जो ज्ञान की—

अहो अजान! ज्ञान उपदेसत ज्ञानरूप हमहीं।
निसिदिन ध्यान सूर प्रभु को अलि! देखत जित तितहीं ॥

सूर ने ज्ञान या योगमार्ग को संकीर्ण, कठिन और नीरस तथा भक्ति-मार्ग को विशाल, सरल और सरस कहा है। ज्ञान या योग का अभ्यासी विश्व की विभूति से अपनी वृत्ति समेटकर अंतर्मुख हो जाता है। इसलिए गुह्य, रहस्य एवं उलझन की वृद्धि होती है। पर भक्ति का अनुरागी बहि-र्मुख रहता है। वह जगत् के विभूतिमत्, श्रीमत् और ऊर्जस्वित रूपों में अपनी वृत्ति रमाए रहता है†। इसलिए दुराव-छिपाव से दूर रहता है। उसके लिए सब कुछ सुलझा हुआ है। इस प्रकार भक्ति का राजमार्ग

---

* ततस्ताः कृष्णसंदेशैर्व्यपेतविरहज्वराः ।
उद्धवं पूजयांचक्रुर्ज्ञात्वात्मानमधोक्षजम् ॥ आदि ।

† यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत् तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽंशसम्भवम् ॥

गीता—

चौड़ा, निष्कंटक और सीधा है। उसमें गोपन, रहस्य या उलझाव कहीं नहीं—

काहे को रोंकत मारग सूधो।
सुनहु मधुप! निर्गुन-कंटक तें राजपंथ क्यों रूँधो॥
× × ×
राजपंथ तें टारि बतावत उरझ, कुबील, कुपैंड़ो।
सूरजदास समाय कहाँ लौं अज के बदन कुम्हैंड़ो॥

विश्व की विभूति में मन को रमाने का जैसा अवसर भक्तिभावना में है वैसा अंतःसाधना में नहीं। कल्याण का मार्ग अंतर्व्यापी नहीं, बहिर्व्यापी सत्ता से फूटता है—

दूरि नहीं दयाल सब घट कहत एक समान।
निकसि क्यों न गोपाल बोधत दुखिन के दुख जान॥
× × ×
उर तें निकसि करत क्यों न सीतल जो पै कान्ह यहाँ है।

सगुणोपासना साधार होती है, मन को रमाती है। निर्गुणोपासना निराधार होती है, मन को चक्कर में डालती है—

रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालंब मन चक्कृत धावै।
सब बिधि अगम बिचारहि तातें सूर सगुन-लीला-पद गावै॥

इसी से योग-साधना या निर्गुणोपासना नीरस कही गई है—

ए अलि! कहा जोग में नीको।
तजि रस-रीति नंदनंदन की सिखवत निर्गुन फीको॥
× × ×
सूर कहौ गुरु कौन करै अलि! कौन सुनै मत फीको।

सगुण-निर्गुण के विवाद से उद्धव-प्रसंग इतना खिला कि और भी कई समर्थ कवि उस पर रीझे। नंददास ने भी भावभरा 'भँवरगीत' गाया। उसकी टेकमिश्रित गीतशैली भ्रमरगीत की विशिष्ट पद्धति ही मान ली गई

है। इनका भँवरगीत शुद्ध मुक्तक न होकर पद्य-निबंध के ढंग पर चला है। इसलिए। उसमें गोपी-उद्धव-संवाद सधा हुआ आया है। उत्तर-प्रत्युत्तर भी तर्कबद्ध रीति पर है। सूर के भ्रमरगीत की सी विविधता उसमें नहीं, पर निबंध-रूप में होने से रसधारा का आनंद-प्रवाह अवश्य मिलता है। सूर के उद्धव की भाँति नंददास के उद्धव मौनाभ्यासी या अल्पभाषी नहीं हैं, भारी शास्त्रार्थी या विवादी हैं।

श्रीकृष्ण के वियोगवृत्त पर दो विशिष्ट रचनाएँ आधुनिक काल में भी प्रस्तुत हुईं—एक रत्नाकर का 'उद्धव-शतक' और दूसरी सत्यनारायण कविरत्न का 'भ्रमर-दूत'। सूर के भ्रमरगीत में जो थोड़ी कमी थी वह 'उद्धव-शतक' में परिपूर्ण हो गई। कवित्त-शैली में कुछ नवीन उद्भावनाओं के साथ 'उद्धव-शतक' प्रस्तुत करके रत्नाकर ने अपनी कवित्व-शक्ति का सच्चा परिचय तो दिया ही, लाक्षणिक प्रयोगों और व्यंजक विधि की कसावट से भाषा-शक्ति का भी पूरा प्रमाण उपस्थित किया। इसमें भ्रमर का वृत्त नहीं आया है। 'भ्रमर-दूत' में देशप्रेम की भी व्यंजना करके कविरत्नजी ने उसे सामयिक रंग में बड़ी ही विदग्धता के साथ रँगा है। यशोदा या भारतमाता 'भ्रमर' को दूत बनाकर श्रीकृष्ण के पास द्वारका भेजती हैं। इसकी रीति नंददासवाली टेकमिश्रित है। इस प्रकार उद्धव एवं भ्रमर के वृत्तांत पर हिंदी में एक पृथक् ही वाङ्मय खड़ा हो गया है, जो बहुत ही रसीला और मर्मस्पर्शी है।

प्रस्तुत 'भ्रमरगीत' सूरसागर की सर्वोत्कृष्ट रत्नराजि है। स्वर्गीय आचार्य शुक्लजी ने सूरसागर को मथकर भ्रमरगीत-सार कोई चार सौ पदों में संचित किया था। संग्रह थोड़ा-थोड़ा करके कई बार में किया गया था और जैसे जैसे संग्रह होता जाता था पुस्तक छपती जाती थी। इसी से इसमें कुछ पद पुनरुक्त हो गए और कुछ अस्थानस्थ। यहाँ तक कि एक

पद संयोग-शृंगार का भी चिपका रह गया। पुस्तक का अधिक प्रचार हुआ और शुक्लजी के जीवनकाल में ही इसकी कई आवृत्तियाँ हो गईं। न तो प्रकाशक को पुनरावृत्ति रोक रखने का अवकाश मिला और न संपादक को उसकी पुनरावृत्ति करने का। फलस्वरूप पुस्तक प्रायः ज्यों की त्यों छपती रही। केवल थोड़ी सी छापे की वे अव्यवस्थाएँ दूर कर दी गईं जो पहली आवृत्ति होते ही ज्ञात हो गई थीं। अतः शुक्लजी जैसा चाहते थे वैसा परिष्कार करने की बारी ही नहीं आई।

काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय में यह ग्रन्थ पढ़ाते समय मुझे शुक्लजी से कई स्थानों पर विचार-विमर्श करने का भी सुअवसर प्राप्त हो चुका है। प्रस्तुत आवृत्ति के समय जब प्रकाशक ने मुझसे इसके उपपादन का अनुरोध किया तो मैंने शुक्लजी की नीति के अनुकूल इसमें कुछ उलट-फेर करने का दुस्साहस भी किया। फेर-फार करने में जो विशेषता आ गई हो उसे स्वर्गीय शुक्लजी का प्रसाद और जो त्रुटि बन पड़ी हो उसे मेरा ही प्रमाद समझना चाहिए।

छानबीन करने से निम्नलिखित पद संयोग-शृंगार का दिखाई पड़ा। अतः इसे हटा देना पड़ा—

देखु री, हरि जू के नैनन की छबि।

यह अनुमान, मानि मन मानी अंबुज सेवत रबि॥
खंजरीट अतिब्यथा चपल भए, बन मृग, जल महँ मीन रहे दबि।
एते पै मानत न, कछू न कछू कहत हैं कुकबि॥
इन से तो एई हरि, आवै न कछु फबि।
सूरदास उपमा जु गईं सब ज्यों होमत हबि॥

उद्धव-गोपी-संवाद के एक ही लंबे पद (संख्या ३७९) के छः टुकड़े हो गए थे और उनमें पृथक् पृथक् संख्याएँ लग गई थीं। ये संख्याएँ भी

हटा दी गईं। पाँच पद दो दो बार छप गए थे। ये पुनरुक्त पद भी कम कर दिए गए। ग्रन्थ में पहले कुल पद-संख्या ४०३ थी। उक्त परिशुद्धि से ११ संख्याएँ कम हो गईं और अब कुल पद-संख्या ३९२ ही रह गई। ८–९ पद नए जोड़ कर ४०० या ४०१ पद-संख्या कर देने का विचार था, पर कई कारणों से ऐसा नहीं किया।

भ्रमरगीत के कुछ पदों का आवश्यक अंश शुक्लजी ने अपन भूमिका में भी उद्धृत किया है। मिलाने पर भूमिका और मूल के पदों में कहीं थोड़ा और कहीं विशेष पाठभेद दिखाई पड़ा। अधिकतर भूमिका के पाठ को ठीक मानकर जहाँ तक बन सका दोनों की एकरूपता स्थापित की गई। पदों में जो छापे की अशुद्धियाँ रह गई थीं उन्हें भी शुद्ध कर दिया गया। ब्रज में तालव्य 'श' नहीं होता इसलिए सर्वत्र दंत्य 'स' का ही व्यवहार किया गया है। पहले इस नियम का पालन कहीं था कहीं नहीं।

पदों की दो-चार टिप्पणियों में मतभेद दिखाई पड़ा। इनमें कोई परिवर्तन न करके संपादक की मूल टिप्पणियों के नीचे दूसरे अक्षरों में नई टिप्पणियाँ अलग से लगा दी गई हैं। शुक्लजी की टिप्पणियों के अतिरिक्त बहुत से ऐसे शब्द और प्रयोग और दिखाई पड़े जिनकी व्याख्या आवश्यक प्रतीत हुई। इसलिए 'चूर्णिका' नाम से पुस्तक के अंत में कुछ और टिप्पणियाँ भी जोड़ देनी पड़ीं। अब आशा की जा सकती है कि यह पढ़ने-पढ़ानेवालों के लिए सुगम हो गया होगा।

ब्रह्मनाल, काशी
रथयात्रा, १९९९

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

महाकवि सूरदासजी

हिन्दुओं के स्वातन्त्र्य के साथ ही साथ वीर-गाथाओं की परम्परा भी काल के अँधेरे में जा छिपी। उस हीनदशा के बीच वे अपने पराक्रम के गीत किस मुँह से गाते और किन कानों से सुनाते? जनता पर गहरी उदासी छा गई थी। राम और रहीम को एक बतानेवाली बानी मुरझाए मन को हरा न कर सकी; क्योंकि उसके भीतर उस कट्टर एकेश्वरवाद का सुर मिला हुआ था, जिसका ध्वंसकारी स्वरूप लोग नित्य अपनी आँखों देख रहे थे। सर्वस्व गँवाकर भी हिंदू जाति अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाए रखने की वासना नहीं छोड़ सकी थी। इससे उसने अपनी सभ्यता, अपने चिर-संचित संस्कार आदि की रक्षा के लिए राम और कृष्ण का आश्रय लिया; और उनकी भक्ति का स्रोत देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गया। जिस प्रकार वंग देश में कृष्ण चैतन्य ने उसी प्रकार उत्तर भारत में वल्लभाचार्य्यजी ने परम भाव की उस आनन्दविधायिनी कला का दर्शन कराकर जिसे प्रेम कहते हैं जीवन में सरसता का संचार किया। दिव्य प्रेम-संगीत की धारा में इस लोक का सुखद पक्ष निखर आया और जमती हुई उदासी या खिन्नता बह गई।

जयदेव की देववाणी स्निग्ध पीयूष-धारा, जो काल की कठोरता में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोक-भाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल-कंठ से प्रकट हुई और आगे चलकर व्रज के करील कुंजों के बीच

फैल मुरझाए मनों को सींचने लगी। आचार्य्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेम-लीला का कीर्त्तन करने उठीं, जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी। ये भक्त-कवि सगुण उपासना का रास्ता साफ करने लगे। निर्गुण उपासना की नीरसता और अग्राह्यता दिखाते हुए ये उपासना का हृदयग्राही स्वरूप सामने लाने में लग गए। इन्होंने भगवान् का प्रेममय रूप ही लिया; इससे हृदय की कोमल वृत्तियों के ही आश्रय और आलंबन खड़े किए। आगे जो इनके अनुयायी कृष्ण-भक्त हुए वे भी उन्हीं वृत्तियों में लीन रहे। हृदय की अन्य वृत्तियों [उत्साह आदि] के रंजनकारी रूप भी यदि वे चाहते तो कृष्ण में ही मिल जाते; पर उनकी ओर वे न बढ़े। भगवान् का यह व्यक्त स्वरूप यद्यपि एक-देशीय था—केवल प्रेममय था—पर उस समय नैराश्य के कारण जनता के हृदय में जीवन की ओर से एक प्रकार की जो अरुचि सी उत्पन्न हो रही थी उसे हटाने में उपयोगी हुआ। मनुष्यता के सौंदर्य्यपूर्ण और माधुर्य्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर इन कृष्णोपासक वैष्णव कवियों ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया, या कम से कम जीने की चाह बनी रहने दी।

बाल्य-काल और यौवन-काल कितने मनोहर हैं! उनके बीच नाना मनोरम परिस्थितियों के विशद चित्रण द्वारा सूरदासजी ने जीवन की जो रमणीयता सामने रखी उससे गिरे हुए हृदय नाच उठे। 'वात्सल्य' और 'शृंगार' के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया उतना किसी और कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक आए। उक्त दोनों रसों के प्रवर्त्तक रति-भाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके उतनी का

और कोई नहीं। हिन्दी-साहित्य में शृंगार का रसराजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया तो सूर ने।

उनकी उमड़ती हुई वाग्धारा उदाहरण रचनेवाले कवियों के समान गिनाए हुए संचारियों से बँधकर चलनेवाली न थी। यदि हम सूर के केवल विप्रलंभ शृंगार को ही लें, अथवा इस भ्रमर-गीत को ही देखें, तो न जाने कितने प्रकार की मानसिक दशाएँ ऐसी मिलेंगी जिनके नामकरण तक नहीं हुए हैं। मैं इसी को कवियों की पहुँच कहता हूँ। यदि हम मनुष्य-जीवन के संपूर्ण क्षेत्र को लेते हैं तो सूरदासजी की दृष्टि परिमित दिखाई पड़ती है। पर यदि उनके चुने हुए क्षेत्रों (शृंगार और वात्सल्य) को लेते हैं, तो उनके भीतर उनकी पहुँच का विस्तार बहुत अधिक पाते हैं। उन क्षेत्रों में इतना अंतर्दृष्टिविस्तार और किसी कवि का नहीं। बात यह है कि सूर को 'गीतकाव्य' की जो परंपरा (जयदेव और विद्यापति की) मिली वह शृंगार की ही थी। इसी से सूर के संगीत में भी उसी की प्रधानता रही। दूसरी बात है उपासना का स्वरूप। सूरदासजी वल्लभाचार्यजी के शिष्य थे, जिन्होंने भक्तिमार्ग में भगवान् का प्रेममय स्वरूप प्रतिष्ठित करके उसके आकर्षण द्वारा 'सायुज्य मुक्ति' का मार्ग दिखाया था। भक्ति-साधना के इस चरम लक्ष्य या फल (सायुज्य) की ओर सूर ने कहीं-कहीं संकेत भी किया है; जैसे—

> सीत उष्न सुख दुख नहिं मानै, हानि भए कछु सोच न राँचै।
> जाय समाय सूर वा निधि में बहुरि न उलटि जगत में नाँचै॥

जिस प्रकार ज्ञान की चरम सीमा ज्ञाता और ज्ञेय की एकता है उसी प्रकार प्रेम-भाव की चरम सीमा आश्रय और आलंबन की एकता है। अतः भगवद्भक्ति की साधना के लिए इसी प्रेम-तत्त्व को वल्लभाचार्य ने सामने रखा और उनके अनुयायी कृष्ण-

भक्त कवि इसी को लेकर चले। गो॰ तुलसीदासजी की दृष्टि व्यक्तिगत साधना के अतिरिक्त लोक-पक्ष पर भी थी; इसी से वे मर्यादा-पुरुषोत्तम के चरित को लेकर चले और उसमें लोकरक्षा के अनुकूल जीवन की ओर और वृत्तियों का भी उन्होंने उत्कर्ष दिखाया और अनुरंजन किया।

उक्त प्रेमतत्त्व की पुष्टि में ही सूर की वाणी मुख्यतः प्रयुक्त जान पड़ती है। रति-भाव के तीनों प्रबल और प्रधान रूप—भगवद्विषयक रति, वात्सल्य और दाम्पत्य रति—सूर ने लिए हैं। यद्यपि पिछले दोनों प्रकार के रति-भाव भी कृष्णोन्मुख होने के कारण तत्त्वतः भगवत्प्रेम के अन्तर्भूत ही हैं पर निरूपण-भेद से और रचना-विभाग की दृष्टि से वे अलग रखे गए हैं। इस दृष्टि से विभाग करने से विनय के जितने पद हैं वे भगवद्विषयक रति के अन्तर्गत आवेंगे; बाललीला के पद वात्सल्य के अंतर्गत और गोपियों के प्रेम-संबंधी पद दाम्पत्य रति-भाव के अन्तर्गत होंगे। हृदय से निकली हुई प्रेम की इन तीनों प्रबल धाराओं से सूर ने बड़ा भारी सागर भरकर तैयार किया है।

कवि-कर्म्म-विधान के दो पक्ष होते हैं—विभाव पक्ष और भाव पक्ष। कवि एक ओर तो ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है जो मन में कोई भाव उठाने या उठे हुए भाव को और जगाने में समर्थ होती हैं और दूसरी ओर उन वस्तुओं के अनुरूप भावों के अनेक स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त करता है। एक विभाव-पक्ष है, दूसरा भाव-पक्ष। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य में ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं, अतः दोनों रहते हैं। जहाँ एक ही पक्ष का वर्णन रहता है वहाँ भी दूसरा पक्ष अव्यक्त रूप में रहता है। जैसे, नायिका के रूप या नखशिख का कोरा वर्णन लें तो उसमें भी

आश्रय का रति-भाव अव्यक्त रूप में वर्तमान रहता है। भाव-पक्ष में सूर की पहुँच का उल्लेख ऊपर हो चुका है। सूरदासजी ने शृंगार और वात्सल्य ये ही दो रस लिए हैं। अतः विभाव-पक्ष में भी उनका वर्णन उन्हीं वस्तुओं तक परिमित है जो उक्त दोनों रसों के आलंबन या उद्दीपन के रूप में आ सकती हैं; जैसे राधा और कृष्ण के नाना रूप, वेश और चेष्टाएँ तथा करील-कुंज, उपवन, यमुना, पवन, चन्द्र, ऋतु इत्यादि।

विभाव-पक्ष के अन्तर्गत भी वस्तुएँ दो रूपों में लाई जाती हैं—वस्तु रूप में और अलंकार-रूप में; अर्थात् प्रस्तुत रूप में और अप्रस्तुत रूप में। मान लीजिए कि कोई कवि कृष्ण का वर्णन कर रहा है। पहले वह कृष्ण के श्याम या नील वर्ण शरीर को, उस पर पड़े हुए पीतांबर को, त्रिभंगी मुद्रा को, स्मित आनन को, हाथ में ली हुई मुरली को, सिर के कुंचित केश और मोर-मुकुट आदि को सामने रखता है। यह विन्यास वस्तु-रूप में हुआ। इसी प्रकार का विन्यास यमुना-तट, निकुंज की लहराती लताओं, चन्द्रिका, कोकिल-कूजन आदि का होगा। इनके साथ ही यदि कृष्ण के शोभा-वर्णन में घन और दामिनी, सनाल कमल आदि उपमान के रूप में वह लाता है तो यह विन्यास अलंकार रूप में होगा। वर्ण्य विषय की परिमित के कारण वस्तु-विन्यास का जो संकोच 'सूर' की रचना में दिखाई पड़ता है उसकी बहुत कुछ कसर अलंकार-रूप में लाए हुए पदार्थों के प्राचुर्य्य द्वारा पूरी हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रस्तुत रूप में लाए हुए पदार्थों की संख्या सूर में कम, पर अलंकार-रूप में लाए हुए पदार्थों की संख्या बहुत अधिक है। यह दूसरे प्रकार की (आलंकारिक) रूप-योजना या व्यापार-योजना किसी और (प्रस्तुत) रूप के प्रभाव को बढ़ाने के

लिए ही होती है, अतः इसमें लाए हुए रूप या व्यापार ऐसे ही होने चाहिए जो प्रभाव में उन प्रस्तुत रूपों या व्यापार के समान हों। सूर अलंकार-योजना के लिए अधिकतर ऐसे ही पदार्थ लाए हैं।

सारांश यह कि यदि हम बाह्य सृष्टि से लिए रूपों और व्यापारों के संबंध में सूर की पहुँच का विचार करते हैं तो यह बात स्पष्ट देखने में आती है कि प्रस्तुत रूप में लिए हुए पदार्थों और व्यापारों की संख्या परिमित है। उन्होंने कृष्ण और राधा के अंग-प्रत्यंग, मुद्राओं और चेष्टाओं, यमुना-तट, वंशीवट, निकुंज, गोचारण, वन-विहार, बाल-लीला, चोरी, नटखटी तथा कवि-परिपाटी में परिगणित ऋतु-सुलभ वस्तुओं तक ही अपने को रखा है।

इसके कारण दो हैं—पहली बात तो यह है कि इनकी रचना 'गीत-काव्य' है जिसमें मधुर ध्वनि-प्रवाह के बीच कुछ चुने हुए पदार्थों और व्यपारों की झलक भर काफी होती है। गोस्वामी तुलसीदासजी के समान सूरसागर प्रबंध-काव्य नहीं है जिसमें कथाक्रम से अनेक पदार्थों और व्यापारों की शृंखला जुड़ती चली चलती है। सूरदासजी ने प्रत्येक लीला या प्रसंग पर फुटकर पद कहे हैं; एक पद दूसरे पद से संबद्ध नहीं है। प्रत्येक पद स्वतन्त्र है। इसीसे किसी एक प्रसंग पर कहे हुए पदों को यदि हम लेते हैं तो एक ही घटना से संबंध रखनेवाली एक ही बात भिन्न-भिन्न रागिनियों में कुछ फेरफार के साथ बहुत से पदों में मिलती है जिससे पढ़नेवाले का जी कभी-कभी ऊब सा जाता है। यह बात प्रकृत प्रबंध-काव्य में नहीं होती।

परिमित का दूसरा कारण पहले ही कहा जा चुका है कि सूरदासजीने जीवन की वास्तव में दो ही वृत्तियाँ ली हैं—बाल-वृत्ति और यौवन-वृत्ति। इन दोनों के अंतर्गत आए हुए व्यापार क्रीड़ा,

उमंग और उद्रेक के रूप में ही हैं। प्रेम भी घटनापूर्ण नहीं है। उसमें किसी प्रकार का प्रयत्न-विस्तार नहीं है जिसके भीतर नई-नई वस्तुओं और व्यापारों का संनिवेश होता चलता है। लोक-संघर्ष से उत्पन्न विविध व्यापारों की योजना सूर का उद्देश्य नहीं है। उनकी रचना जीवन की अनेकरूपता की ओर नहीं गई है; बाल-क्रीड़ा, प्रेम के रंग-रहस्य और उसकी अतृप्त वासना तक ही रह गई है। जीवन की गंभीर समस्याओं से तटस्थ रहने के कारण उसमें वह वस्तु-गांभीर्य्य नहीं है जो गोस्वामी जी की रचनाओं में है। परिस्थिति की गंभीरता के अभाव से गोपियों के वियोग में भी वह गंभीरता नहीं दिखाई पड़ती जो सीता के वियोग में है। उनका वियोग खाली बैठे का काम सा दिखाई पड़ता है। सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूर दूसरे द्वीप में राक्षसों के बीच पड़ी हुई थीं। गोपियों के गोपाल केवल दो-चार कोस दूर के एक नगर में राजसुख भोग रहे थे। सूर का वियोग-वर्णन वियोग-वर्णन के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं। कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा करते-करते किसी कुंज या झाड़ी में जा छिपते हैं; या यों कहिए कि थोड़ी देर के लिए अंतर्द्धान हो जाते हैं। बस गोपियाँ मूर्छित होकर गिर पड़ती हैं। उनकी आँखों से आँसुओं की धारा उमड़ चलती है। पूर्ण वियोग-दशा उन्हें आ घेरती है। यदि परिस्थिति का विचार करें तो ऐसा विरह-वर्णन असंगत प्रतीत होगा। पर जैसा कहा जा चुका है सूरसागर प्रबंध-काव्य नहीं है जिसमें वर्णन की उपयुक्तता या अनुपयुक्तता के निर्णय में घटना या परिस्थिति के विचार का बहुत कुछ योग रहता है।

पारिवारिक और सामाजिक जीवन के बीच हम सूर के बाल-कृष्ण को ही थोड़ा बहुत देखते हैं। कृष्ण के केवल बाल-चरित्र का

प्रभाव नंद, यशोदा आदि परिवार के लोगों और पड़ोसियों पर पड़ता दिखाई देता हैं। सूर का बाललीला-वर्णन ही पारिवारिक जीवन से संबद्ध है। कृष्ण के छोटे-छोटे पैरों से चलने, मुँह में मक्खन लिपटाकर भागने या इधर-उधर नटखटी करने पर नंद बबा और यशोदा मैया का कभी पुलकित होना, कभी खीझना, कभी पड़ोसियों का प्रेम से उलाहना देना आदि बातें एक छोटे से जन-समूह के भीतर आनन्द का संचार करती दिखाई गई हैं। इसी बाल-लीला के भीतर कृष्णचरित का लोकपक्ष अधिकतर आया है; जैसे कंस के भेजे हुए असुरों के उत्पात से गोपों को बचाना, काली नाग को नाथकर लोगों का भय छुड़ाना। इंद्र के कोप से डूबती हुई बस्ती की रक्षा करने और नंद को वरुण-लोक से लाने का वृत्तांत यद्यपि प्रेमलीला आरंभ होने के पीछे आया है पर उससे संबद्ध नहीं है। कृष्ण के चरित में जो यह थोड़ा बहुत लोकसंग्रह दिखाई पड़ता है उसके स्वरूप में सूर की वृत्ति लीन नहीं हुई है। जिस शक्ति से उस बाल्यावस्था में ऐसे प्रबल शत्रुओं का दमन किया गया उसके उत्कर्ष का अनुरंजनकारी और विस्तृत वर्णन उन्होंने नहीं किया है। जिस ओज और उत्साह से तुलसीदासजी ने मारीच, ताड़का, खरदूषण आदि के निपात का वर्णन किया है उस ओज और उत्साह से सूरदासजी ने बकासुर, अघासुर, कंस आदि के वध और इंद्र के गर्व-मोचन का वर्णन नहीं किया है। कंस और उसके साथी असुर भी कृष्ण के शत्रु के रूप में ही सामने आते हैं, लोक-शत्रु या लोक-पीड़क के रूप में नहीं। रावण के साथी राक्षसों के समान वे ब्राह्मणों को चबा-चबाकर उनकी हड्डियों का ढेर लगानेवाले या स्त्री चुरानेवाले नहीं दिखाई पड़ते। उनके कारण वैसा हाहाकार नहीं सुनाई पड़ता। उनका

अत्याचार 'सभ्य अत्याचार' जान पड़ता है। शक्ति, शील और सौंदर्य भगवान् की इन तीन विभूतियों में से सूर ने केवल सौंदर्य तक ही अपने को रखा है जो प्रेम को आकर्षित करता है। शेष दो विभूतियों को भी लेकर भगवान् ने लोक-रंजनकारी स्वरूप की पूर्ण प्रतिष्ठा हमारे हिंदी-साहित्य में गो० तुलसीदासजी ने की। श्रद्धा या महत्त्व बुद्धि पुष्ट करने के लिए कृष्ण की शक्ति या लौकिक महत्त्व की प्रतिष्ठा में आग्रह न दिखाने के कारण ही सूर की उपासना सख्य भाव की कही जाती है।

पारिवारिक और सामाजिक जीवन के साथ सूरदास द्वारा वर्णित कृष्णचरित्र का जो थोड़ा बहुत संबंध दिखाई पड़ता है उसका सम्यक् स्फुरण नहीं हुआ है। रहा प्रेम-पक्ष; वह ऐकांतिक है। सूर का प्रेम-पक्ष लोक से न्यारा है। गोपियों के प्रेम-भाव की गंभीरता आगे चलकर उद्धव का ज्ञान-गर्व मिटाती हुई दिखाई पड़ती है। वह भक्ति की एकांत साधना का आदर्श प्रतिष्ठित करती हुई जान पड़ती है, लोकधर्म के किसी अंग का नहीं। सूरदास सच्चे प्रेम-मार्ग के त्याग और पवित्रता को ज्ञान-मार्ग के त्याग और पवित्रता के समकक्ष रखने में खूब समर्थ हुए हैं; साथ ही उन्होंने उस त्याग को रागात्मिका वृत्ति द्वारा प्रेरित दिखाकर भक्ति-मार्ग या प्रेम-मार्ग की सुगमता भी प्रतिपादित की है।

तुलसी के समान लोकव्यापी प्रभाववाले कर्म और लोक-व्यापिनी दशाएँ सूर ने वर्णन के लिए नहीं ली हैं। असुरों के अत्याचार से दुखी पृथ्वी की प्रार्थना पर भगवान् का कृष्णावतार हुआ, इस बात को उन्होंने केवल एक ही पद में कह डाला है। इसी प्रकार कागासुर, बकासुर, शकटासुर आदि को हम लोक-पीड़कों के रूप में नहीं पाते हैं। केवल प्रलंब और कंस के वध पर

देवताओं का फूल बरसाना देखकर उक्त कर्म के लोकव्यापी प्रभाव का कुछ आभास मिलता है। पर वह वर्णन विस्तृत नहीं है। सूरदास का मन जितना नंद के घर की आनंद-बधाई, बाल-क्रीड़ा, मुरली की मोहिनी तान, रास-नृत्य, प्रेम के रंग-रहस्य और संयोग-वियोग की नाना दशाओं में लगा है उतना ऐसे प्रसंगों में नहीं। ऐसे प्रसंगों को उन्होंने किसी प्रकार चलता कर दिया है। कुछ लोग रामचरितमानस में राम के प्रत्येक कर्म पर देवताओं का फूल बरसाना देखकर ऊबते से हैं। उन्हें समझना चाहिए कि गोस्वामीजी ने राम के प्रत्येक कर्म को ऐसे व्यापक प्रभाव का चित्रित किया है जिस पर तीनों लोकों की दृष्टि लगी रहती थी। कृष्ण का गोचारण और रास-लीला आदि देखने को भी देवगण एकत्र हो जाते हैं, पर केवल तमाशबीन की तरह।

सूरदासजी को मुख्यतः शृंगार और वात्सल्य का कवि समझना चाहिए, यद्यपि और रसों का भी एकाध जगह अच्छा वर्णन मिल जाता है; जैसे, दावानल के इस वर्णन में भयानक रस का—

भहरात झहरात दावानल आयो।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अंदोर बन धरनि आकास चहुँ पास छायो।
बरत बन-बाँस, थरहरत कुस-कास, जरि उड़त बहु झाँझ, अति प्रबल धायो।
झपटि झपटत लपट, फूल फूटत पटकि, चटकि लट लटकि द्रुम फटि नवायो।
अति अगिनि झार भंभार धुंधार करि उचटि अंगार झंझार छायो।
बरत बनपात, भहरात, झहरात, अररात तरु महा धरनी गिरायो।

पर जैसा कहते आ रहे हैं, मुख्यता शृंगार और वात्सल्य की ही है। पर इसमें संदेह नहीं कि इन दोनों रसों के वे सबसे बड़े कवि हैं।

यहाँ तक तो सूर की रचना की सामान्य दृष्टि से समीक्षा हुई।

अब इन महाकवि की उन विशेषताओं का थोड़ा बहुत दिग्दर्शन होना चाहिए जिनके कारण हिंदी-साहित्य में इनका स्थान इतना ऊँचा है। ध्यान देने की सबसे पहली बात यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक कृति इन्हींकी मिलती है, जो अपनी पूर्णता के कारण आश्चर्य में डाल देती है। पहली साहित्यिक रचना और इतनी प्रचुर, प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण कि अगले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ इनकी जूठी जान पड़ती हैं। यह बात हिंदी-साहित्य का इतिहास लिखनेवालों को उलझन में डालनेवाली होगी। सूरसागर किसी पहले से चली आती हुई परंपरा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा जान पड़ता है, चलनेवाली परम्परा का मूल रूप नहीं।

यदि भाषा को लेकर देखते हैं, तो वह ब्रज की चलती बोली होने पर भी एक साहित्यिक भाषा के रूप में मिलती है, जो और प्रांतों के कुछ प्रचलित शब्दों और प्रत्ययों के साथ ही साथ पुरानी काव्य-भाषा अपभ्रंश के शब्दों को लिए हुए है। सूर की भाषा बिल्कुल बोलचाल की ब्रजभाषा नहीं है। 'जाकों', 'तासों', 'वाकों' चलती ब्रजभाषा के इन रूपों के समान ही 'जेहि', 'तेहि' आदि पुराने रूपों का प्रयोग बराबर मिलता है, जो अवधी की बोलचाल में तो अब तक हैं, पर ब्रज की बोलचाल में सूर के समय में भी नहीं थे। पुराने निश्चयार्थक 'पै' का व्यवहार भी पाया जाता है; जैसे, 'जाहि लगै सोई पै जानै प्रेम-बान अनियारो'। 'गोड़', 'आपन' 'हमार' आदि पूरबी प्रयोग भी बराबर पाए जाते हैं। कुछ पंजाबी प्रयोग भी मौजूद हैं; जैसे, मँहगी के अर्थ में 'प्यारी' शब्द। ये सब बातें एक व्यापक काव्य-भाषा के अस्तित्व की सूचना देती हैं।

अब हम संक्षेप में उन प्रसंगों को लेते हैं जिनमें सूर की प्रतिभा पूर्णतया लीन हुई है। कृष्ण-जन्म की आनंद-बधाई के उपरांत ही बाल-लीला का आरंभ हो जाता है। जितने विस्तृत और विशद रूप में बाल्य-जीवन का चित्रण इन्होंने किया है उतने विस्तृत रूप में और किसी कवि ने नहीं किया। शैशव से लेकर कौमार अवस्था तक के क्रम से लगे हुए न जाने कितने चित्र मौजूद हैं। उनमें केवल बाहरी रूपों और चेष्टाओं का ही विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन नहीं है; कवि ने बालकों की अंतःप्रकृति में भी पूरा प्रवेश किया है और अनेक बाल्य भावों की सुंदर स्वाभाविक व्यंजना की है। देखिए, 'स्पर्द्धा' का भाव, जो बालकों में स्वाभाविक होता है, इन वाक्यों से किस प्रकार व्यंजित हो रहा है—

> मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
> किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
> तू जो कहति 'बल' की बेनी ज्यों ह्वैहै लाँबी मोटी॥

बाल-चेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भांडार और कहीं नहीं है जितना बड़ा सूरसागर में है। दो-चार चित्र देखिए—

(१) कत हो आरि करत मेरे मोहन यों तुम आँगन लोटी ?
जो माँगहु सो देहुँ मनोहर, यहै बात तेरी खोटी।
सूरदास को ठाकुर ठाढ़ो हाथ लकुटि लिए छोटी।

(२) शोभित कर नवनीत लिए।
घुटरुन चलत, रेनु तन मंडित, मुख दधि-लेप किए॥

(३) सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराय करि पानि गहावत, डगमगाय धरै पैयाँ॥

(४) पाहुनी करि दै तनक मह्यो।

आरि करै मनमोहन मेरो, अंचल आनि गह्यो।

व्याकुल मथत मथनियाँ रीती, दधि भ्वैं ढरकि रह्यो॥

हार-जीत के खेल में बालकों के 'क्षोभ' के कैसे स्वाभाविक वचन सूर ने रखे हैं—

खेलत मैं को काको गोसैयाँ।

हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ॥

जाति-पाँति हमतें कछु नाहिं, न बसत तुम्हारी छैयाँ॥

अति अधिकार जनावत यातें अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ॥

अब यहाँ पर थोड़ा इसका भी निर्णय हो जाना चाहिए कि इन बाल-चेष्टाओं का काव्य-विधान में क्या स्थान होगा। वात्सल्य रस के अनुसार बालक कृष्ण आलंबन होंगे और नंद या यशोदा आश्रय। अतः ये चेष्टाएँ अनुभाव के अंतर्गत आती हैं; पर आलंबनगत चेष्टाएँ उद्दीपन के ही भीतर आ सकती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि ऐसी चेष्टाओं का स्थान भाव-विधान के भीतर है। उन्हें अलंकार-विधान के भीतर घसीटकर 'स्वभावोक्ति' अलंकार कहना मेरी समझ में ठीक नहीं।

बाल-लीला के आगे फिर उस गोचारण का मनोरम दृश्य सामने आता है जो मनुष्य जाति की अत्यंत प्राचीन वृत्ति होने के कारण अनेक देशों में काव्य का प्रिय विषय रहा है। यवन देश (यूनान) के 'पशु-चारण काव्य' (Pastoral Poetry) का मधुर संस्कार युरोप की कविता पर अब तक कुछ न कुछ चला ही जाता है। कवियों को आकर्षित करनेवाली गोप-जीवन की सबसे बड़ी विशेषता है प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में विचरने के लिए सबसे अधिक अवकाश। कृषि, वाणिज्य आदि और व्यवसाय जो आगे

चलकर निकले, वे अधिक जटिल हुए—उनमें उतनी स्वच्छंदता न रही। कवि श्रेष्ठ कालिदास ने अपने रघुवंश काव्य के आरंभ में दिलीप को नंदिनी के साथ वन-वन फिराकर इसी मधुर जीवन का आभास दिखाया है। सूरदासजी ने जमुना के कछारों के बीच गोचारण के बड़े सुंदर-सुंदर दृश्य का विधान किया है। यथा—

मैया री! मोहिं दाऊ टेरत।
मोकों वनफल तोरि देत हैं, आपुन गैयन घेरत।

यमुना-तट पर किसी बड़े पेड़ की शीतल छाया में बैठकर कभी सब सखा कलेऊ बाँटकर खाते हैं, कभी इधर-उधर दौड़ते हैं। कभी कोई चिल्लाता है—

द्रुम चढ़ि काहे न टेरत, कान्हा, गैयाँ दूरि गईं।
धाई जाति सबन के आगे जे वृषभान दईं॥

'जे वृषभान दईं' कहकर सूर ने पशु-प्रकृति का अच्छा परिचय दिया है। नए खूँटे पर आई हुई गाएँ बहुत दिनों तक चंचल रहती हैं और भागने का उद्योग करती हैं। इसी से वृषभानु की दी हुई गाएँ चरते समय भी भाग खड़ी होती हैं और कुछ दूसरी गाएँ भी स्वभावानुसार उनके पीछे दौड़ पड़ती हैं।

वृंदावन के उसी सुखमय जीवन के हास-परिहास के बीच गोपियों के प्रेम का उदय होता है। गोपियाँ कृष्ण के दिन-दिन खिलते हुए सौंदर्य और मनोहर चेष्टाओं को देख मुग्ध होती चली जाती हैं और कृष्ण कौमार अवस्था की स्वाभाविक चपलता-वश उनसे छेड़छाड़ करना आरंभ करते हैं। हास-परिहास और छेड़छाड़ के साथ प्रेम-व्यापार का अत्यंत स्वाभाविक आरंभ सूर ने दिखाया है। किसी की रूप-चर्चा सुन, या अकस्मात किसी की एक झलक पाकर हाय-हाय करते हुए इस प्रेम का आरम्भ नहीं हुआ है।

नित्य अपने बीच चलते-फिरते, हँसते बोलते, वन में गाय चराते, देखते देखते गोपियाँ कृष्ण में अनुरक्त होती हैं और कृष्ण गोपियों में। इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं; सहसा उठ खड़े हुए तूफान या मानसिक विप्लव के रूप में नहीं, जिसमें अनेक प्रकार के प्रतिबंधों और विघ्न-बाधाओं को पार करने की लंबी चौड़ी कथा खड़ी होती है। सूर के कृष्ण और गोपियाँ पक्षियों के समान स्वच्छंद हैं। वे लोक-बंधनों से जकड़े हुए नहीं दिखाए गए हैं। जिस प्रकार के स्वच्छंद समाज का स्वप्न अँगरेज कवि शेली देखा करते थे उसी प्रकार का यह समाज सूर ने चित्रित किया है।

सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूप-लिप्सा और साहचर्य दोनों का योग है। बाल-क्रीड़ा के सखा सखी आगे चलकर यौवन-क्रीड़ा के सखा-सखी हो जाते हैं। गोपियों ने उद्धव से साफ कहा है—"लरिकाई को प्रेम कहौ, अलि कैसे छूटै"। केवल एक साथ रहते रहते भी दो प्राणियों में स्वभावतः प्रेम हो जाता है। कृष्ण एक तो बाल्यावस्था से ही गोपियों के बीच रहे, दूसरे सुंदरता में भी अद्वितीय थे। अतः गोपियों के प्रेम का क्रमशः विकास दो प्राकृतिक शक्तियों के प्रभाव से होने के कारण बहुत ही स्वाभाविक प्रतीत होता है। बाल-क्रीड़ा इस प्रकार क्रमशः यौवन-क्रीड़ा के रूप में परिणत होती गई है कि संधि का पता ही नहीं चलता। रूप का आकर्षण बाल्यावस्था से ही आरंभ हो जाता है। राधा और कृष्ण के विशेष प्रेम की उत्पत्ति सूर ने रूप के आकर्षण द्वारा ही कही है।

(क) खेलन हरि निकसे ब्रज-खोरी।

> गए स्याम रबि-तनया के तट, अंग लसति चन्दन की खोरी॥
> औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल, भाल दिए रोरी।
> सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगोरी॥

चलकर निकले, वे अधिक जटिल हुए—उनमें उतनी स्वछंदता न रही। कवि श्रेष्ठ कालिदास ने अपने रघुवंश काव्य के आरंभ में दिलीप को नंदिनी के साथ वन-वन फिराकर इसी मधुर जीवन का आभास दिखाया है। सूरदासजी ने जमुना के कछारों के बीच गोचारण के बड़े सुंदर-सुंदर दृश्य का विधान किया है। यथा—

मैया री। मोहिं दाऊ टेरत।

मोकों बनफल तोरि देत हैं, आपुन गैयन घेरत।

यमुना-तट पर किसी बड़े पेड़ की शीतल छाया में बैठकर कभी सब सखा कलेऊ बाँटकर खाते हैं, कभी इधर-उधर दौड़ते हैं। कभी कोई चिल्लाता है—

द्रुम चढ़ि काहे न टेरत, कान्हा, गैयाँ दूरि गईं।

धाई जाति सबन के आगे जे वृषभान दईं॥

'जे वृषभान दईं' कहकर सूर ने पशु-प्रकृति का अच्छा परिचय दिया है। नए खूँटे पर आई हुई गाएँ बहुत दिनों तक चंचल रहती हैं और भागने का उद्योग करती हैं। इसी से वृषभानु की दी हुई गाएँ चरते समय भी भाग खड़ी होती हैं और कुछ दूसरी गाएँ भी स्वभावानुसार उनके पीछे दौड़ पड़ती हैं।

वृंदावन के उसी सुखमय जीवन के हास-परिहास के बीच गोपियों के प्रेम का उदय होता है। गोपियाँ कृष्ण के दिन-दिन खिलते हुए सौंदर्य और मनोहर चेष्टाओं को देख मुग्ध होती चली जाती हैं और कृष्ण कौमार अवस्था की स्वाभाविक चपलता-वश उनसे छेड़छाड़ करना आरंभ करते हैं। हास-परिहास और छेड़छाड़ के साथ प्रेम-व्यापार का अत्यंत स्वाभाविक आरंभ सूर ने दिखाया है। किसी की रूप-चर्चा सुन, या अकस्मात किसी की एक झलक पाकर हाय-हाय करते हुए इस प्रेम का आरम्भ नहीं हुआ है।

नित्य अपने बीच चलते-फिरते, हँसते बोलते, वन में गाय चराते, देखते देखते गोपियाँ कृष्ण में अनुरक्त होती हैं और कृष्ण गोपियों में। इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं; सहसा उठ खड़े हुए तूफान या मानसिक विप्लव के रूप में नहीं, जिसमें अनेक प्रकार के प्रतिबंधों और विघ्न-बाधाओं को पार करने की लंबी चौड़ी कथा खड़ी होती है। सूर के कृष्ण और गोपियाँ पक्षियों के समान स्वच्छंद हैं। वे लोक-बंधनों से जकड़े हुए नहीं दिखाए गए हैं। जिस प्रकार के स्वच्छंद समाज का स्वप्न अँगरेज कवि शेली देखा करते थे उसी प्रकार का यह समाज सूर ने चित्रित किया है।

सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूप-लिप्सा और साहचर्य्य दोनों का योग है। बाल-क्रीड़ा के सखा सखी आगे चलकर यौवन-क्रीड़ा के सखा-सखी हो जाते हैं। गोपियों ने उद्धव से साफ कहा है— "लरिकाई को प्रेम कहौ, अलि कैसे छूटै"। केवल एक साथ रहते रहते भी दो प्राणियों में स्वभावतः प्रेम हो जाता है। कृष्ण एक तो बाल्यावस्था से ही गोपियों के बीच रहे, दूसरे सुंदरता में भी अद्वितीय थे। अतः गोपियों के प्रेम का क्रमशः विकास दो प्राकृतिक शक्तियों के प्रभाव से होने के कारण बहुत ही स्वाभाविक प्रतीत होता है। बाल-क्रीड़ा इस प्रकार क्रमशः यौवन-क्रीड़ा के रूप में परिणत होती गई है कि संधि का पता ही नहीं चलता। रूप का आकर्षण बाल्यावस्था से ही आरंभ हो जाता है। राधा और कृष्ण के विशेष प्रेम की उत्पत्ति सूर ने रूप के आकर्षण द्वारा ही कही है।

(क) खेलन हरि निकसे ब्रज-खोरी।

गए स्याम रबि-तनया के तट, अंग लसति चन्दन की खोरी॥
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल, भाल दिए रोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगोरी॥

(ख) बूझत स्याम, कौन तू, गोरी।

"कहाँ रहति, काकी तू बेटी ? देखी नाहिं कहूँ ब्रज खोरी" ॥
"काहे कों हम ब्रजतन आवति ? खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनति रहति श्रवनन नँद-ढोटा करत रहत माखन-दधि चोरी" ॥
"तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं ? खेलन चलौ संग मिलि जोरी"।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी" ॥

इस खेल ही खेल में इतनी बड़ी बात पैदा हो गई है जिसे प्रेम कहते हैं। प्रेम का आरंभ उभय पक्ष में सम है। आगे चलकर कृष्ण के मथुरा चले जाने पर उसमें कुछ विषमता दिखाई पड़ती है। कृष्ण यद्यपि गोपियों को भूले नहीं हैं, उद्धव के मुख से उनका वृत्तांत सुनकर वे आँखों में आँसू भर लेते हैं, पर गोपियों ने जैसा वेदनापूर्ण उपालंभ दिया है उससे अनुराग की कमी ही व्यंजित होती है।

पहले कहा जा चुका है कि शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में सूर की समता को और कोई कवि नहीं पहुँचा है। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का इतना प्रचुर विस्तार और किसी कवि में नहीं मिलता। वृंदावन में कृष्ण और गोपियों का संपूर्ण जीवन क्रीड़ामय है और वह सम्पूर्ण क्रीड़ा संयोग-पक्ष है। उसके अन्तर्गत विभावों की परिपूर्णता कृष्ण और राधा के अंग-प्रत्यंग की शोभा के अत्यन्त प्रचुर और चमत्कारपूर्ण वर्णन में तथा वृंदावन के करील-कुंजों, लोनी लताओं, हरे भरे कछारों, खिली हुई चाँदनी, कोकिल-कूजन आदि में देखी जाती है। अनुभावों और संचारियों का इतना बाहुल्य और कहाँ मिलेगा ? सारांश यह कि संयोग-सुख के जितने प्रकार के क्रीड़ा-विधान हो सकते हैं वे सब सूर ने लाकर इकट्ठे कर दिए हैं। यहाँ

तक कि कुछ ऐसी बातें भी आ गई हैं—जैसे, कृष्ण के कंधे पर चढ़कर फिरने का राधा का आग्रह—जो कम रसिक लोगों को अरुचिकर स्त्रैणता प्रतीत होंगी।

सूर का संयोग-वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है, प्रेम-संगीत-मय जीवन की एक गहरी चलती धारा है, जिसमें अवगाहन करनेवाले को दिव्य माधुर्य्य के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं दिखाई पड़ता। राधा-कृष्ण के रंग-रहस्य के इतने प्रकार के चित्र सामने आते हैं कि सूर का हृदय प्रेम की नाना उमंगों का अक्षय भांडार प्रतीत होता है। प्रेमोदय काल की विनोद-वृत्ति और हृदय-प्रेरित हावों की छटा चारों ओर छलकी पड़ती है। राधा और कृष्ण का गाय चराते समय वन में भी साथ हो जाता है, एक दूसरे के घर आने जाने भी लगे हैं, इसलिए ऐसी ऐसी बातें नित्य न जाने कितनी हुआ करती हैं—

(क) करि ल्यो न्यारी, हरि, आपनि गैयाँ।
नहिं न बसात लाल कछु तुम सों, सबै ग्वाल इक ठैयाँ॥

(ख) धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी।
मोहन कर तें धार चलति पय, मोहनि-मुख अति ही छवि बाढ़ी॥

(ग) तुम पै कौन दुहावै गैया?
इत चितवत, उत धार चलावत, एहि सिखयो है मैया?

यशोदा के इस कथन का कि बार बार तू यहाँ क्यों उत्पात मचाने आती है राधा जो उत्तर देती है उसमें प्रेम के आविर्भाव की कैसी सीधी सादी और भोली भाली व्यँजना है—

बार बार तू ह्याँ जनि आवै।
"मैं कहा करौं सुतहिं नहिं बरजति, घर तें मोहिं बुलावै॥

मोसों कहत तोहिं बिनु देखे रहत न मेरो प्रान।
छोह लगत मोकों सुनि बानी, महरि! तिहारी आन"॥

कहने का सारांश यह कि प्रेम नाम की मनोवृत्ति का जैसा विस्तृत और पूर्ण परिज्ञान सूर को था, वैसा और किसी कवि को नहीं। इनका सारा संयोग-वर्णन लंबी चौड़ी प्रेमचर्या है जिसमें आनंदोल्लास के न जाने कितने स्वरूपों का विधान है। रास-लीला, दानलीला, मानलीला इत्यादि सब उसी के अन्तर्भूत हैं। पीछे देव कवि ने एक 'अष्टयाम' रचकर प्रेमचर्या दिखाने का प्रयत्न किया; पर वह अधिकतर एक घर के भीतर के भोग-विलास की कृत्रिम दिनचर्या के रूप में है। उसमें न तो वह अनेकरूपता है और न प्राकृतिक जीवन की वह उमंग।

आलंबन की रूप-प्रतिष्ठा के लिए कृष्ण के अंग प्रत्यंग का सूर ने जो सैकड़ों पदों में वर्णन किया है, वह तो किया ही है, आश्रय-पक्ष में नेत्र-व्यापार और उसके अद्भुत प्रभाव पर एक दूसरी ही पद्धति पर बड़ी ही रम्य उक्तियाँ बहुत अधिक हैं। रूप को हृदय तक पहुँचानेवाले नेत्र ही हैं। इससे हृदय की सारी आकुलता, अभिलाषा और उत्कंठा का दोष इन्हीं रूपवाहकों के सिर मढ़कर सूर ने इनके प्रभाव-प्रदर्शन के लिए बड़े अनूठे ढंग निकाले हैं। कहीं इनकी न बुझनेवाली प्यास की परेशानी दिखाई है; कहीं इनकी चपलता और निरंकुशता पर इन्हें कोसा है। पीछे बिहारी, रामसहाय, गुलाम नबी और रसनिधि ने भी इस पद्धति का बहुत कुछ अनुकरण किया, पर यहाँ तो भांडार भरा हुआ है। इस प्रकार के नेत्र-व्यापार-वर्णन आश्रय-पक्ष और आलंबन-पक्ष दोनों में होते हैं। सूर ने आश्रय-पक्ष में ही इस प्रकार के वर्णन किए हैं; जैसे—

मेरे नैना विरह की बेलि बई।
सींचत नीर नैन के सजनी मूल पताल गई॥
बिगसति लता सुभाय आपने, छाया सघन भई।
अब कैसे निरुवारौं, सजनी! सब तन पसरि छई॥

आलंबन-पक्ष में सूर के नेत्र-वर्णन उपमा-उत्प्रेक्षा आदि से भरी रूप चित्रण की शैली पर ही हैं; जैसे—

देखि, री! हरि के चँचल नैन।
खँजन मीन मृगज चपलाई नहिँ पटतर एक सैन॥
राजिवदल इँदीवर, सतदल कमल, कुसेसय जाति।
निसि मुद्रित, प्रातहि वै बिगसत, ये बिगसत दिन राति॥
अरुन असित सित झलक पलक प्रति को बरनै उपमाय।
मनौ सरस्वति गंग जमुन मिलि आगम कीन्हों आय॥

आलँबन में स्थित नेत्र क्या क्या करते हैं, इसका वर्णन सूर ने बहुत ही कम किया है। पिछले कुछ कवियों ने इस पक्ष में भी चमत्कार-पूर्ण उक्तियाँ कही हैं। जैसे, सूर ने तो "अरुन, असित सित झलक" पर गंगा यमुना और सरस्वती की उत्प्रेक्षा की है, पर गुलाम नबी (रसलीन) ने उसी झलक की यह करतूत दिखाई है—

अमिय, हलाहल, मद भरे, स्वेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥

मुरली पर कही हुई उक्तियाँ भी ध्यान देने योग्य हैं, क्योंकि उनसे प्रेम की सजीवता टपकती है। यह वह सजीवता है, जो भरे हुए हृदय से छलक कर निर्जीव वस्तुओं पर भी अपना रंग चढ़ाती है। गोपियों की छेड़छाड़ कृष्ण ही तक नहीं रहती, उनकी मुरली तक भी—जो जड़ और निर्जीव है—पहुँचती है। उन्हें वह मुरली कृष्ण के संबंध से कभी इठलाती, कभी चिढ़ाती और कभी प्रेम-

गर्व दिखाती जान पड़ती है। उसी संबंध-भावना से वे उसे कभ फटकारती हैं, कभी उसका भाग्य सराहती हैं और कभी उससे ईर्ष्या प्रकट करती हैं—

(क) माई री! मुरली अति गर्व काहू बदति नहिं आज।
हरि के मुख-कमल देखु पायो सुखराज॥

(ख) मुरली तऊ गोपालहि भावति।
सुन, री सखी! जदपि नँदनंदहि नाना भाँति नचावति।
राखति एक पायँ ठाढ़े करि, अति अधिकार जनावति॥
आपुन पौढ़ि अधर-सज्जा पर कर-पल्लव सों पदप लुटावति।
भृकुटी कुटिल, कोप नासापुट हम पर कोपि कुपावति॥

हृदय के पारखी सूर ने संबंध-भावना की शक्ति का अच्छा प्रसार दिखाया है। कृष्ण के प्रेम ने गोपियों में इतनी सजीवता भर दी है कि कृष्ण क्या, कृष्ण की मुरली तक से छेड़छाड़ करने को उनका जी चाहता है। हवा से लड़नेवाली स्त्रियाँ देखी नहीं, तो कम से कम सुनी बहुतों ने होंगी, चाहे उनकी जिंदःदिली की क़द्र न की हो। मुरली के संबंध में कहे हुए गोपियों के वचन से दो मानसिक तथ्य उपलब्ध होते हैं—आलंबन के साथ किसी वस्तु की संबंध-भावना का प्रभाव तथा अत्यंत अधिक या फालतू उमंग के स्वरूप। मुरली संबंधिनी उक्तियों में प्रधानता पहली बात की है, यद्यपि दूसरे तत्त्व का भी मिश्रण है। फालतू उमंग के बहुत अच्छे उदाहरण उस समय देखने में आते हैं, जब कोई स्त्री अपने प्रिय को कुछ दूर पर देख कभी ठोकर खाने पर कंकड़ पत्थर को दो चार मीठी गालियाँ सुनाती है, कभी रास्ते में पड़ती हुई पेड़ की टहनी पर भ्रूभंग सहित झुँझलाती है और कभी अपने किसी साथी को यों ही ढकेल देती है।

यह सूचित करने की आवश्यकता तो कदाचित् न हो कि रूप पर मोहित होना, दर्शन के लिए आकुल रहना, वियोग में तड़पना आदि गोपियों के पक्ष में जितना कहा गया है, उतना कृष्ण-पक्ष में नहीं। यह यहाँ के शृंगारी कवियों को—विशेषतः फुटकर पद्य रचनेवालों की—सामान्य प्रवृत्ति ही रही है। तुल्यानुराग होने पर भी स्त्रियों की प्रेम-दशा या काम-दशा का वर्णन करने में ही यहाँ के कवियों का मन अधिक लगा है। पुराने प्रबंध काव्यों में तो यह भेद उतना लक्षित नहीं होता, पर पीछे के काव्यों में यह स्पष्ट झलकता है। वाल्मीकिजी ने रामायण में सीता-हरण के उपरांत राम और सीता दोनों के वियोग-दुःख-वर्णन में प्रायः समान ही शब्द-व्यय किया है। कालिदास ने मेघदूत का आरंभ यक्ष की विरहावस्था से करके उत्तर-मेघ में यक्षिणी के विरह का वर्णन किया है। उनके नाटकों में भी प्रायः यही बात पाई जाती है। अतः मेरी समझ में शृंगार में नायिका की प्रेम-दशा या विरह दशा का प्राधान्य श्रीमद्भागवत और ब्रह्मवैवर्त्तपुराण की कृष्णलीला के अधिकाधिक प्रचार के साथ हुआ, जिसमें एक ओर तो अनंत सौंदर्य की स्थापना की गई और दूसरी ओर स्वाभाविक प्रेम का उदय दिखाया गया। पुरुष आलंबन हुआ और स्त्री आश्रय। जनता के बीच प्रेम के इस स्वरूप ने यहाँ तक प्रचार पाया कि क्या नगरों में, क्या ग्रामों में, सर्वत्र प्रेम के गीतों के नायक कृष्ण हुए और नायिका राधा। 'वनवारी' या 'कन्हैया' नायक का एक सामान्य नाम सा हो गया। दिल्ली के पिछले बादशाह मुहम्मद शाह रँगीले तक को होली के दिनों में 'कन्हैया' बनने का शौक़ हुआ करता था।

और देशों को फुटकर शृंगारी कविताओं में प्रेमियों के ही

विरह आदि के वर्णन की प्रधानता देखी जाती है। जैसे एशिया के अरब, फ़ारस आदि देशों में वैसे ही युरोप के इटली आदि काव्य-संगीत-प्रिय देशों में भी यही पद्धति प्रचलित रही। इटली में पीट्रार्क की शृंगारी कविता एक प्रेमिक के हृदय का उद्गार है। भारत में कृष्ण-कथा के प्रभाव से नायक के आकर्षक रूप में प्रतिष्ठित होने से पुरुषों की प्राधान्य-वासना की अधिक तृप्ती हुई। आगे चलकर पुरुषत्व पर इसका कुछ बुरा प्रभाव भी पड़ा। बहुतेरे शौर्य्य, पराक्रम आदि पुरुषोचित गुणों से मुँह मोड़ 'चटक मटक लटक' लाने में लगे—बहुत जगह तो माँग-पट्टी, सुरमे, मिस्सी तक की नौबत पहुँची। युरोप में, जहाँ स्त्री प्रधान आकर्षक के रूप में प्रतिष्ठित हुई, इसका उलटा हुआ। वहाँ स्त्रियों के बनाव सिंगार और पहनावे के खर्च के मारे पुरुषों के नाकों दम हो गया।

सूर के संयोग-वर्णन की बात हो चुकी। इनका विप्रलंभ भी ऐसा ही विस्तृत और व्यापक है। वियोग की जितनी अंतर्दशाएँ हो सकती हैं, जितने ढंगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यतः हो सकता है, वे सब उसके भीतर मौजूद हैं। आरंभ वात्सल्य रस के वियोग-पक्ष से हुआ है। कृष्ण के मथुरा से न लौटने पर नंद और यशोदा दुःख के सागर में मग्न हो गए हैं। अनेक दुःखात्मक भावतरंगें उनके हृदय में उठती हैं। कभी यशोदा नंद से खीझकर कहती हैं—

> छाँड़ि सनेह चले मथुरा, कत दौरि न चीर गह्यो।
>
> फाटि न गई वज्र की छाती, कत यह सूल सह्यो॥

इस पर नंद यशोदा पर उलट पड़ते हैं—

> तब तू मारिबोई करति।
>
> रिसनि आगे कहै जो आवत, अब लै भाँड़े भरति॥

रोस कै कर दाँवरी लै फ़िरति घर घर धरति।
कठिन हिय करि तब जो बाँध्यो, अब वृथा करि मरति ॥

यह 'झुँझलाहट' वियोग-जन्य है, प्रेम-भाव के ही अन्तर्गत है और कितनी स्वाभाविक है! सुख-शांति के भंग का कैसा यथातथ्य चित्र है! आगे देखिए, गहरी 'उत्सुकता' और 'अधीरता' के बीच 'विरक्ति' (निर्वेद) और तिरस्कार-मिश्रित 'खिझलाहट' का यह मेल कैसा अनूठा उतरा है। यशोदा नंद से कहती हैं—

नंद ! व्रज लीजै ठोंकि बजाय।
देहु विदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहँ गोकुल के राय ॥

'ठोंकि बजाय' में कितनी व्यंजना है! 'तुम अपना व्रज अच्छी तरह सँभालो; तुम्हें इसका गहरा लोभ है; मैं तो जाती हूँ'। एक एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखाई दे रहा है। एक वाक्य दो दो तीन तीन भावों से लदा हुआ है। श्लेष आदि कृत्रिम विधानों से मुक्त ऐसा ही भाव-गुरुत्व हृदय को सीधे जाकर स्पर्श करता है। इसे भाव-शवलता कहें या भाव-पंचामृत; क्योंकि एक ही वाक्य "नंद ! व्रज लीजै ठोंकि बजाय" में कुछ निर्वेद, कुछ तिरस्कार और कुछ अमर्ष इन तीनों की मिश्र व्यंजना—जिसे शवलता ही कहने से संतोष नहीं होता—पाई जाती है। शवलता के प्रदत्त उदाहरणों में प्रत्येक भाव अलग शब्दों या वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट किया जा सकता है; पर उक्त वाक्य में यह बात नहीं है।

ग्वाल सखाओं की भी यही दशा हो रही है। कभी वे व्याकुल और अधीर होते हैं, कभी कृष्ण की निष्ठुरता पर क्षुब्ध होकर कहते हैं—

भए हरि मधुपुरी राजा, बड़े बंस कहाय।
सूत मागध बदत बिरुदहि बरनि बसुद्यौ तात ॥
राजभूषन अंग भ्राजत, अहिर कहत लजात ॥

वियुक्त प्रिय पुत्र के सुख के अनिश्चय की 'शंका' तक न पहुँचती हुई भावना, 'दीनता' और क्षोभ-जन्य 'उदासीनता' किस प्रकार इन वचनों से टपक रही है—

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की, कृपा करति ही रहियो ॥
तुम तो टेव जानतिहि हैहौ तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल-लड़ैतहि माखन रोटी भावै ॥

कृष्ण राजभवन में जा पहुँचे हैं, यह जानते हुए भी यशोदा के प्रेमपूर्ण हृदय में यह बात जल्दी नहीं बैठती कि कृष्ण के सुख का ध्यान जितना वे रखती थीं उतना संसार में और भी कोई रख सकता है। रसमग्न हृदय ही ऐसी दशाओं का अनुभव कर सकता है। केवल उदाहरण की लीक पीटनेवालों के भाग्य में यह बात कहाँ!

आगे चलकर गोपियों की वियोग-दशा का जो धारा-प्रवाह वर्णन है उसका तो कहना ही क्या है। न जाने कितनी मानसिक दशाओं का सँचार उसके भीतर है। कौन गिना सकता है? संयोग और वियोग दो अंग होने से शृङ्गार की व्यापकता बहुत अधिक है। इसी से वह रसराज कहलाता है। इस दृष्टि से यदि सूरसागर को हम रससागर कहें तो बेखटके कह सकते हैं। कृष्ण के चले जाने पर सायं प्रभात तो उसी प्रकार होते हैं, पर "मदन गोपाल बिना या तन की सबै बात बदली"। ब्रज में पहले सायंकाल में जो मनोहर दृश्य देखने में आया करता था वह अब बाहर नहीं

दिखाई पड़ता ; पर मन से उसकी 'स्मृति' नहीं जाती—

एहि बेरियाँ बन तें व्रज आवते।
दूरहिं तें वह वेनु अधर धरि बारंबार बजावते ॥

संयोग के दिनों में आनंद की तरंगें उठानेवाले प्राकृतिक पदार्थों को वियोग के दिनों में देखकर जो दुःख होता है उसकी व्यंजना के लिए कवियों में उपालंभ की चाल बहुत दिनों से चली आती है। चंद्रोपालंभ-संबंधिनी बड़ी सुंदर कविताएँ संस्कृत-साहित्य में हैं। देखिए, सागर-मथन के समय चंद्रमा को निकालनेवालों तक, इस उपालंभ में, किस प्रकार गोपियाँ अपनी दृष्टि दौड़ाती हैं—

या बिनु होत कहा अब सूनो ?
लै किन प्रकट कियो प्राची दिसि, बिरहिनि को दुख दूनो ?
सब निरदय सुर, असुर, सैल, सखि ! सायर सर्प समेत ॥
धन्य कहौं वर्षा ऋतु, तमचुर औ कमलन को हेत।
जुग जुग जीवै जरा बापुरी मिलै राहु अरु केत।

इसी पद्धति के अनुसार वे वियोगिनी गोपियाँ अपने उजड़े हुए नीरस जीवन के मेल में न होने के कारण वृंदावन के हरे भरे पेड़ों को कोसती हैं—

मधुबन ! तुम कत रहत हरे ?
विरह-वियोग स्यामसुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे।
तुम हो निलज, लाज नहिं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे।
ससा स्यार औ बन के पखेरू धिक धिक सबन करे।
कौन काज ठाढ़े रहे बन में, काहे न उकठि परे ?

इसी प्रकार रात उन्हें साँपिन सी लग रही है। साँपिन की पीठ काली और पेट सफेद होता है। ऐसा प्रसिद्ध है कि वह काट-

कर उलट जाती है, जिससे सफेद भाग ऊपर हो जाता है। बरसात की अँधेरी रात में कभी कभी बादलों के हट जाने से जो चाँदनी फैल जाती है वह ऐसी ही लगती है—

पिया बिनु साँपिनि कारी राति।
कबहुँ जामिनी होत जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जाति॥

इस पद पर न जाने कितने लोग लट्टू हैं!

सूरदासजी का विहार-स्थल जिस प्रकार घर की चार-दीवारी के भीतर तक ही न रहकर यमुना के हरे भरे-कछारों, करील के कुंजों और वनस्थलियों तक फैला है उसी प्रकार उनका विरह-वर्णन भी "बैरिन भईं रतियाँ" और "साँपिन भइ सेजिया" तक ही न रहकर प्रकृति के खुले क्षेत्र के बीच दूर दूर तक पहुँचता है। मनुष्य के आदिम वन्य जीवन के परंपरागत मधुर संस्कार को उद्दीप्त करनेवाले इन शब्दों में कितना माधुर्य्य है—"एक बन ढूँढ़ि सकल बन ढूँढ़ौं, कतहुँ न स्याम लहौं"। ऋतुओं का आना जाना उसी प्रकार लगा है। प्रकृति पर उनका रंग वैसा ही चढ़ता उतरता दिखाई पड़ता है। भिन्न-भिन्न ऋतुओं की वस्तुएँ देख जैसे गोपियों के हृदय में मिलने की उत्कंठा उत्पन्न होती है वैसे ही कृष्ण के हृदय में क्यों नहीं उत्पन्न होती? जान पड़ता है कि ये सब उधर जाती ही नहीं, जिधर कृष्ण बसते हैं। सब वृन्दावन में ही आ आ कर अपना अड्डा जमाती हैं—

मानौ, माई! सबन्ह इतै ही भावत।
अब वहि देस नंदनंदन को कोउ न समौ जनावत॥
धरत न बन नवपत्र, फूल, फल, पिक बसंत नहिं गावत।
मुदित न सर सरोज अलि गुंजत, पवन पराग उड़ावत॥

पावस बिविध बरन बर बादर उठि नहिं अंबर छावत।
चातक मोर चकोर सोर करैं, दामिनि रूप दुरावत॥

अपनी अंतर्दशा को ऋतु-सुलभ व्यापारों के बीच बिंब-प्रतिबिंब रूप में देखना भाव-मग्न अंतःकरण की एक विशेषता है। इसके वर्णन में प्रस्तुत अप्रस्तुत का भेद मिट सा जाता है। ऐसे वर्णन पावस के प्रसंग में सूर ने बहुत अच्छे किए हैं। "निसि दिन बरसत नैन हमारे" बहुत प्रसिद्ध पद है। विरहोन्माद में भिन्न-भिन्न प्रकार की उठती हुई भावनाओं से रंजित होकर एक ही वस्तु कभी 'किसी रूप में दिखाई पड़ती है, कभी किसी रूप में। उठते हुए बादल कभी तो ऐसे भीषण रूप में दिखाई पड़ते हैं—

देखियत चहुँ दिसि तें घन घोरे।
मानौ मत्त मदन के हथियन बल करि बंधन तोरे॥
कारे तन अति चुवत गंड मद, बरसत थोरे थोरे।
रुकत न पवन-महावत हू पै, मुरत न अंकुस मोरे॥

कभी अपने प्रकृत लोक-सुखदायक रूप में ही सामने आते हैं और कृष्ण की अपेक्षा कही दयालु और परोपकारी लगते हैं—

बरु ये बदराऊ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि, नँदनंदन! गरजि गगन घन छाए॥
कहियत है सुरलोक बसत, सखि! सेवक सदा पराए॥
चातक कुल की पीर जानि कै, तेउ तहाँ तें धाए॥
तृण किए हरित, हरषि बेली मिलि, दादुर मृतक जिवाए॥

'बदराऊ' के 'ऊ' और 'बरु' में कैसी व्यंजना है! 'बादल तक'—जो जड़ समझे जाते हैं—आश्रितों के दुःख से द्रवीभूत होकर आते हैं!

प्रिय के साथ कुछ रूप-साम्य के कारण वे ही मेघ कभी प्रिय लगने लगते हैं—

आजु घन स्याम की अनुहारि।
उनै आए साँवरे ते सजनी! देखि, रूप की आरि॥
इँद्रधनुष मनो नवल बसन छवि, दामिनि दसन बिचारि।
जनु बग-पाँति माल मोतिन की, चितवत हितहि निहारि॥

इसी प्रकार पपीहा कभी अपनी बोली के द्वारा प्रिय का स्मरण कराकर दुःख वढ़ाता हुआ प्रतीत होता है और यह फटकार सुनता है—

हौं तो मोहन के बिरह जरी, रे! तू कत जारत?
रे पापी तू पंखि पपीहा! 'पिउ पिउ पिउ, अधिराति पुकारत॥
सब जग सुखी, दुखी तू जल बिनु, तऊ न तन की बिथहि बिचारत।
सूर स्याम बिनु ब्रज पर बोलत, हठि अगिलोऊ जनम बिगारत॥

और कभी सम दुःख-भोगी के रूप में अत्यंत सुहृद जान पड़ता है और समान प्रेम व्रत-पालन के द्वारा उनका उत्साह बढ़ाता प्रतीत होता है—

बहुत दिन जीवौ, पपिहा प्यारो।
बासर रैनि नाँव लै बोलत, भयो बिरह-जुर कारो॥
आपु दुखित पर दुखित जानि जिय चातक* नाम तिहारो।
देखौ सकल बिचारि, सखी! जिय बिछुरन को दुख न्यारो॥
जाहि लगै सोई पै जानै प्रेम-बान अनियारो।
सूरदास प्रभु स्वाति-बूँद लगि, तज्यो सिंधु करि खारो॥

काव्य जगत् की रचना करनेवाली कल्पना इसी को कहते हैं। किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अंतर्वृत्ति जब उस भाव के

---

* चातक = (चत् = माँगना) याचना करनेवाला।

पोषक स्वरूप गढ़कर या काट छाँटकर सामने रखने लगती है तब हम उसे सच्ची कवि-कल्पना कह सकते हैं। यों ही सिरपच्ची करके—बिना किसी भाव में मग्न हुए—कुछ अनोखे रूप खड़े करना या कुछ को कुछ कहने लगना या तो बावलापन है, या दिमागी कसरत; सच्चे कवि की कल्पना नहीं। वास्तव के अतिरिक्त या वास्तव के स्थान पर जो रूप सामने लाए गए हों उनके संबंध में यह देखना चाहिए कि वे किसी भाव की उमंग में उस भाव को सँभालनेवाले या बढ़ानेवाले होकर आ खड़े हुए हैं या यों ही तमाशा दिखाने के लिए—कुतूहल उत्पन्न करने के लिए—जबरदस्ती पकड़ कर लाए गए हैं। यदि ऐसे रूपों की तह में उनके प्रवर्त्तक या प्रेषक भाव का पता लग जाय तो समझिए कि कवि के हृदय का पता लग गया और वे रूप हृदय-प्रेरित हुए। अँगरेज़ कवि कालरिज ने, जिसने कवि-कल्पना पर अच्छा विवेचन किया है, अपनी एक कविता* में ऐसे रूपावरण को आनंद-स्वरूप आत्मा से निकला हुआ कहा है, जिसके प्रभाव से जीवन में रोचकता रहती है। जब तक यह रूपावरण (कल्पना का) जीवन में साथ लगा चलता है तब तक दुःख की परिस्थिति में भी आनंद-स्वप्न नहीं टूटता। पर धीरे-धीरे यह दिव्य आवरण हट जाता है और मन गिरने लगता है। भावोद्रेक और कल्पना में इतना घनिष्ठ संबंध है कि एक काव्य मीमांसक ने दोनों को एक ही कहना ठीक समझ कर कह दिया है—"कल्पना आनंद है" (Imagination is joy) †

सच्चे कवियों की कल्पना की बात जाने दीजिए, साधारण

---

* Dejection Ode, 4th April 1802.

† G. W. Mackael's Lectures on Poetry.

व्यवहार में भी लोग जोश में आकर कल्पना का जो व्यवहार बराबर किया करते हैं वह भी किसी पहाड़ को 'शिशु' और 'पांडव' कहनेवाले कवियों के व्यवहार से कहीं उचित होता है। किसी निष्ठुर कर्म करनेवाले को यदि कोई 'हत्यारा' कह देता है, तो वह सच्ची कल्पना का उपयोग करता है; क्योंकि विरक्ति या घृणा के अतिरेक से प्रेरित होकर ही उसकी अंतर्वृत्ति हत्यारे का रूप सामने करती है, जिससे भाव की मात्रा के अनुरूप आलंबन खड़ा हो जाता है। 'हत्यारा' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग ही विरक्ति की अधिकता का व्यंजक है। उसके स्थान पर यदि कोई उसे 'बकरा' कहे, तो या तो किसी भाव की व्यंजना न होगी या किसी ऐसे भाव की होगी जो प्रस्तुत विषय के मेल में नहीं। कहलानेवाला कोई भाव अवश्य चाहिए और उस भाव को प्रस्तुत वस्तु के अनुरूप होना चाहिए। भारी मूर्ख को लोग जो 'गदहा' कहते हैं वह इसी लिए कि 'मूर्ख' कहने से उनका जी नहीं भरता—उनके हृदय में उपहास अथवा तिरस्कार का जो भाव रहता है उसकी व्यंजना नहीं होती।

कहने की आवश्यकता नहीं कि अलंकार-विधान में उपयुक्त उपमान लाने में कल्पना ही काम करती है। जहाँ वस्तु, गुण या क्रिया के पृथक् पृथक् साम्य पर ही कवि की दृष्टि रहती है वहाँ वह उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का सहारा लेता है और जहाँ व्यापार-समष्टि या पूर्ण प्रसंग का साम्य अपेक्षित होता है वहाँ दृष्टांत, अर्थान्तरन्यास और अन्योक्ति का। उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट है कि प्रस्तुत के मेल में जो अप्रस्तुत रखा जाय— चाहे वह वस्तु, गुण या क्रिया हो अथवा व्यापार-समष्टि—वह प्राकृतिक और चित्ताकर्षक हो तथा उसी प्रकार का भाव जगानेवाला हो

जिस प्रकार का प्रस्तुत। व्यापार-समष्टि के समन्वय में कवि की सहृदयता का जिस पूर्णता के साथ हमें दर्शन होता है उस पूर्णता के साथ वस्तु, क्रिया आदि के पृथक् पृथक् समन्वय में नहीं। इसी से सुंदर अन्योक्तियाँ इतनी मर्मस्पर्शिणी होती हैं। चुना हुआ अप्रस्तुत व्यापार जितना ही प्राकृतिक होगा—जितना ही अधिक मनुष्य जाति के आदिम जीवन में सुलभ दृश्यों के अंतर्गत होगा—उतना ही रमणीय और अनुरंजनकारी होगा। सूरदासजी ने कई स्थलों पर अपनी कल्पना के बल से प्रस्तुत प्रसंग के मेल में अत्यंत मनोरम व्यापार-समष्टि की योजना की है। कोई गोपिका या राधा स्वप्न में श्रीकृष्ण के दर्शनों का सुख प्राप्त कर रही थी कि उसकी नींद उचट गई। इस व्यापार के मेल में कैसा प्रकृति-व्यापी और गूढ़ व्यापार सूर ने रखा है, देखिए—

हमको सपनेहू में सोच।
जा दिन तें बिछुरे नंदनंदन ता दिन तें यह पोच॥
मनौ गोपाल आए मेरे घर, हँसि करि भुजा गही।
कहा करौं वैरिनि भइ निंदिया, निमिष न और रही॥
ज्यों चकई प्रतिबिंब देखि कै आनंदी पिय जानि।
सूर पवन मिलि निठुर बिधाता चपल कियो जल आनि॥

स्वप्न में अपने ही मानस में किसी का रूप देखने और जल में अपना ही प्रतिबिंब देखने का कैसा गूढ़ और सुंदर साम्य है। इसके उपरान्त पवन द्वारा प्रशांत जल के हिल जाने से छाया का मिट जाना कैसा भूतव्यापी व्यापार स्वप्नभंग के मेल में लाया गया है!

इसी प्रकार प्राकृतिक चित्रों द्वारा सूर ने कई जगह पूरे प्रसंग की व्यंजना की है। जैसे, गोपियाँ मथुरा से कुछ ही दूर पर पड़ी

विरह से तड़फड़ा रही हैं, पर कृष्ण राज-सुख के आनंद में फूले नहीं समा रहे हैं। यह बात वे इस चित्र द्वारा कहते हैं—

सागर-कूल मीन तरफत है, हुलसि होत जल पीन।

जैसा ऊपर कहा गया है, जिसे निर्माण करनेवाली—सृष्टि खड़ी करने वाली—कल्पना कहते हैं उसकी पूर्णता किसी एक प्रस्तुत वस्तु के लिए कोई दूसरी अप्रस्तुत वस्तु—जो कि प्रायः कवि-परंपरा में प्रसिद्ध हुआ करती है—रख देने में उतनी नहीं दिखाई पड़ती जितनी किसी एक पूर्ण प्रसंग के मेल का कोई दूसरा प्रसंग—जिसमें अनेक प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों की नवीन योजना रहती है—रखने में देखी जाती है। सूरदासजी ने कल्पना की इस पूर्णता का परिचय जगह जगह दिया है, इसका अनुमान ऊपर उद्धृत पदों से हो सकता है। कबीर, जायसी आदि कुछ रहस्यवादी कवियों ने इस जीवन का मार्मिक स्वरूप तथा परोक्ष जगत् की कुछ धुँधली सी झलक दिखाने के लिए इसी अन्योक्ति की पद्धति का अवलंबन किया है; जैसे—

हँसा प्यारे! सरवर तजि कहँ जाय!
जेहि सरवर बिच मोती चुनते, बहुविधि केलि कराय॥
सूख ताल, पुरइनि जल छोड़े, कमल गयो कुँभिलाय।
कह कबीर जो अब की बिछुरै, बहुरि मिलै कब आय॥

रहस्यवादी कवियों के समान सूर की कल्पना भी कभी कभी इस लोक का अतिक्रमण करके आदर्श लोक की ओर संकेत करने लगती है; जैसे—

चकई री! चलि चरन-सरोवर जहाँ न प्रेम-वियोग।
निसि दिन राम राम की वर्षा, भय रुज नहिं दुख सोग॥
जहाँ सनक से मीन, हँस सिव, मुनि-जन नख-रवि-प्रभा-प्रकास।

प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि डर, गुंजत निगम सुबास ॥
जेहि सर सुभग मुक्ति मुक्ता-फल, सुकृत अमृत रस पीजै ।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि बिहंगम ! इहाँ कहा रहि कीजै ? ॥

पर एक व्यक्तवादी सगुणोपासक कवि की उक्ति होने के कारण इस चित्र में वह रहस्यमयी अव्यक्तता या धुँधलापन नहीं है। कवि अपनी भावना को स्पष्ट और अधिक व्यक्त करने के लिए जगह जगह आकुल दिखाई पड़ता है। इसी से अन्योक्ति का मार्ग छोड़ जगह जगह उसने रूपक का आश्रय लिया है। इसी अन्योक्ति का दीनदयालगिरि जी ने अच्छा निर्वाह किया है:—

चल चकई ! वा सर विषम जहँ नहिं रैनि बिछोह ।
रहत एकरस दिवस ही सुहृद हंस-संदोह ॥
सुहृद हंस-संदोह कोह अरु द्रोह न जाके ।
भोगत सुख-अंबोह, मोह-दुख होय न ताके ॥
बरनै दीनदयाल भाग्य बिनु जाय न सकई ।
पिय-मिलाप नित रहै ताहि सर चल तू चकई ॥

इसी अन्योक्ति-पद्धति को कवींद्र रवींद्र ने आज कल अपने विस्तृत प्रकृति-निरीक्षण के बल से और अधिक पल्लवित करके जो पूर्ण और भव्य स्वरूप प्रदान किया है वह हमारे नवीन हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में 'गाँव में नया नया आया ऊँट' हो रहा है। बहुत से नवयुवकों को अपना एक नया ऊँट छोड़ने का हौसला हो गया है। जैसे भावों या तथ्यों की व्यंजना के लिए श्रीयुत रवींद्र प्रकृति के क्रीड़ास्थल से ले कर नाना मूर्त्त स्वरूप खड़ा करते हैं वैसे भावों को ग्रहण करने तक की क्षमता न रखनेवाले बहुतेरे ऊटपटाँग चित्र खड़ा करने और कुछ असंबद्ध प्रलाप करने को ही 'छायावाद'

की कविता समझ अपनी भी कुछ करामात दिखाने के फेर में पड़ गए हैं। चित्रों के द्वारा बात कहना बहुत ठीक है, पर कहने के लिए कोई बात भी तो हो। कुछ तो काव्य-रीति से सर्वथा अनभिज्ञ, छंद, अलंकार आदि के ज्ञान से बिल्कुल कोरे देखे जाते हैं। बड़ी भारी बुराई यह है कि अपने को एक 'नए सम्प्रदाय' में समझ अहंकारवश वे कुछ सीखने का कभी नाम भी नही लेना चाहते और अपनी अनभिज्ञता को एक चलते नाम की ओट में छिपाना चाहते हैं। मैंने कई एक से उन्हीं को रचना लेकर कुछ प्रश्न किए, पर उनका मानसिक विकास बहुत साधारण कोटि का—कोई गंभीर तत्त्व ग्रहण करने के अनुपयुक्त—पाया। ऐसों के द्वारा काव्य-क्षेत्र में भी, राजनीतिक क्षेत्र के समान, पाखँड के प्रचार की आशँका है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि रहस्यवाद का प्रकृत स्वरूप और उसका इतिहास आदि साहित्य-सेवियों के सामने रखा जाय तथा पुराने और नए रहस्यवादी कवियों की रचनाओं की सूक्ष्म परीक्षा द्वारा रहस्यवाद की कविता के साहित्यक स्वरूप की मीमांसा की जाय। इस विषय पर अपने विचार मैं किसी दूसरे समय प्रकट करूँगा ; इस समय जो इतना कह गया, उसी के लिए क्षमा चाहता हूँ।

यहाँ तक तो सूर की सहृदयता की बात हुई। अब उनकी साहित्यिक निपुणता के संबंध में भी दो चार बातें कहना आवश्यक है। किसी कवि की रचना के विचार के सुबीते के लिए हम दो पक्ष कर सकते हैं—हृदय-पक्ष और कला-पक्ष। हृदय-पक्ष का कुछ दिग्दर्शन हो चुका। अब सूर की कला निपुणता के, काव्य के वाह्यांग के, संबंध में यह समझ रखना चाहिए कि वह भी उनमें पूर्ण रूप से वर्त्तमान है। यद्यपि काव्य में हृदय-पक्ष ही प्रधान है,

पर बहिरंग भी कम आवश्यक नहीं है। रीति, अलंकार, छंद ये सब बहिरंग विधान के अन्तर्गत हैं, जिनके द्वारा काव्यात्मा की अभिव्यक्ति में सहायता पहुंचती है। सूर, तुलसी, विहारी आदि कवियों में दोनों पक्ष प्रायः सम हैं। जायसी में हृदय-पक्ष की प्रधानता है, कला-पक्ष में (अलँकारों का बहुत कुछ व्यवहार होते हुए भी) त्रुटि और न्यूनता है। केशव में कला पक्ष ही प्रधान है, हृदय-पक्ष न्यून है।

यह तो आरम्भ में ही कहा जा चुका है कि सूर की रचना जयदेव और विद्यापति के गीत-काव्यों की शैली पर है, जिसमें सुर और लय के सौंदर्य या माधुर्य का भी रस-परिपाक में बहुत कुछ योग रहता है। सूरसागर में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी, इससे वह संगीत-प्रेमियों के लिए भी वड़ा भारी खज़ाना है। नाद-सौंदर्य के साधनों में अनुप्रास आदि शब्दालंकार भी हैं। संस्कृत के गीत-गोविंद में कोमल-कांत-पदावली और अनुप्रास की ओर बहुत कुछ ध्यान है। विद्यापति की रचना में कोमल पदावली का आग्रह तो है, पर अनुप्रास का उतना नहीं। सूर में चलती भाषा की कोमलता है, वृत्ति-विधान और अनुप्रास की ओर झुकाव कम है। इससे भाषा की स्वाभाविकता में वाधा नहीं पड़ने पाई है। भावुक सूर ने अपना 'शब्द-शोधन' दूसरी ओर दिखाया है। उन्होंने चलते हुए वाक्यों, मुहावरों और कहीं कहीं कहावतों का बहुत अच्छा प्रयोग किया है। कहने का तात्पर्य यह कि सूर की भाषा बहुत चलती हुई और स्वाभाविक है। काव्य-भाषा होने से यद्यपि उसमें कहीं कहीं संस्कृत के पद, कवि के समय से पूर्व के परंपरागत प्रयोग तथा व्रज से दूर दूर के प्रदेशों के शब्द भी आ मिले हैं, पर उनकी मात्रा इतनी नहीं है कि भाषा के स्वरूप

में कुछ अन्तर पड़े या कृत्रिमता आवे। श्लेष और यमक कूट पदों में ही अधिकतर पाए जाते हैं।

अर्थालंकारों की अलबत्त पूर्ण प्रचुरता है, विशेषतः उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्य-मूलक अलंकारों की। यद्यपि उपमान अधिकतर साहित्य-प्रसिद्ध और परंपरागत ही हैं, पर स्वकल्पित नए नए उपमानों की भी कमी नहीं है। कहीं कहीं तो जो प्रसिद्ध उपमान भी लिए गए हैं, वे प्रसंग के बीच बड़ी ही अनूठी उद्भावना के साथ बैठाए गए हैं। स्फटिक के आँगन में बालक कृष्ण घुटनों के बल चल रहे हैं और उनके हाथ पैर का प्रतिबिंब पड़ता चलता है। इस पर कवि की उत्प्रेक्षा देखिये—

> फटिक-भूमि पर कर-पग-छाया यह शोभा अति राजति।
> करि करि प्रति पद प्रतिमनि बसुधा कमल बैठकी साजति॥

रूप या अगों की शोभा के वर्णन में उपमा, उत्प्रेक्षा की भर-मार बराबर मिलेगी। इनमें बहुत सी तो पुरानी और बँधी हुई हैं और कुछ नवीन भी हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा की सबसे अधिकता 'हरिजू की बाल छवि' के वर्णन में पाई जाती है; यों तो जहाँ जहाँ रूपवर्णन है सर्वत्र ये अलंकार भरे पड़े हैं। उपमान सब तरह के हैं, पृथ्वी पर के भी और पृथ्वी के बाहर के भी—सामान्य प्राकृतिक व्यापार भी और पौराणिक प्रसंग भी। पिछले प्रकार के उपमानों के उदाहरण इस प्रकार के हैं—

> (क) नील स्वेत पर पीत लाल मनि लटकन माल रुराई।
> सनि, गुरु, असुर, देवगुरु मिलि मनो भौम सहित समुदाई॥

> (ख) हरि कर राजत माखन रोटी।
> मनो बराह भूधर सह पृथिवी धरी दसनन की कोटी॥

अंग शोभा और वेश-भूषा आदि के वर्णन में सूर की उपमा

देने की झक सी चढ़ जाती है और वे उपमा पर उपमा, उत्प्रेक्षा पर उत्प्रेक्षा कहते चले जाते हैं। इस झक में कभी कभी परिमिति या मर्यादा का विचार (Sense of proportion) नहीं रह जाता; जैसे, ऊपर के उदाहरण (ख) में कहाँ मक्खन लगी हुई छोटी सी रोटी और कहाँ गोल पृथ्वी ! हाँ, जहाँ ईश्वरत्व या देवत्व की भावना से किसी छोटे व्यापार द्वारा अत्यन्त बृहद् व्यापार की ओर सँकेत मात्र किया है वहाँ ऐसी बात नहीं खटकती; जैसे इस पद में—

> मथत दधि मथनी टेकि रह्यो।
> आरि करत मटकी गहि मोहन वासुकि संभु डर्‌यो॥
> मंदर डरत, सिंधु पुनि काँपत फिरि जनि मथन करै।
> प्रलय होय जनि गहे मथानी, प्रभु मर्याद टरै॥

पर उक्त दोनों उदाहरणों के संबंध में तो इतना बिना कहे नहीं रहाजाता कि ऐसे उपमान बहुत काव्योपयोगी नहीं जँचते। काव्य में ऐसे ही उपमान अच्छी सहायता पहुँचाते हैं जो सामान्यतः प्रत्यक्ष रूप में परिचित होते हैं और जिनकी भव्यता, विशालता या रमणीयता आदि का संस्कार जनसाधारण के हृदय पर पहले से जमा चला आता है। न शनि का कोयले सा कालापन ही किसी ने आँखों देखा है, न वराह भगवान् का दाँत की नोक पर पृथ्वी उठाना। यह बात दूसरी है कि केशव ऐसे कुछ प्रसिद्ध कवियों ने भी "भानु मनो सनि अंक लिए" ऐसी उत्प्रेक्षा की ओर रुचि दिखाई है।

हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि ज्ञान विज्ञान के प्रसार से जो सूक्ष्म से सूक्ष्म और बृहत् से बृहत् क्षेत्र मनुष्य के लिए खुलते जाते हैं उनके भीतर के नाना रमणीय और अद्भुत रूपों और व्यापारों का—जो सर्वसाधारण को प्रत्यक्ष नहीं हैं—काव्य

में उपयोग करके उसके क्षेत्र का विस्तार न किया जाय। उनका प्रयोग किया जाय, कवि की प्रतिभा द्वारा वे गोचर रूप में सामने लाए जायँ, पर दूसरे प्रकार की रचनाओं में लाए जायँ, केवल अंग, आभूषण आदि की उपमा के लिए नहीं। ज्योतिर्विज्ञान द्वारा खगोल के बीच न जाने कितने चक्कर खाते, बनते बिगड़ते, रंग-बिरंग के पिंडों, अपार ज्योतिःसमूहों आदि का पता लगा है जिनके सामने पृथ्वी किसी गिनती में नहीं। कोई विश्व-व्यापिनी ज्ञान-दृष्टिवाला कवि यदि विश्व की कोई गंभीर समस्या लेकर उसे काव्य रूप में रखना चाहता है तो वह इन सबको हस्तामलक बनाकर सामने ला सकता है।

सूरदासजी में जितनी सहृदयता और भावुकता है, प्रायः उतनी ही चतुरता और वाग्विदग्धता (Wit) भी है। किसी बात को कहने के न जाने कितने टेढ़े सीधे ढंग उन्हें मालूम थे। गोपियों के वचन में कितनी विदग्धता और वक्रता भरी है। वचन-रचना की उस वक्रता के संबंध में आगे विचार किया जायगा। यहाँ पर हम वैदग्ध्य के उस उपयोग का उल्लेख करना चाहते हैं जो आलंकारिक कुतूहल उत्पन्न करने के लिए किया गया है। साहित्य-प्रसिद्ध उपमानों को लेकर सूर ने बड़ी बड़ी क्रीड़ाएँ की हैं। कहीं उनको लेकर रूपकातिशयोक्ति द्वारा "अद्भुत एक अनूपम बाग" लगाया है; कहीं, जब जैसा जी चाहा है, उन्हें संगत सिद्ध करके दिखा दिया है, कहीं असंगत। गोपियाँ वियोग में कुढ़कर एक स्थान पर कृष्ण के अंगों के उपमानों को लेकर उपमा को इस प्रकार न्याय-संगत ठहराती हैं।

> ऊधो! अब यह समुझि भई।
> नंदनँदन के अंग अंग प्रति उपमा न्याय-दई॥

कुंतल कुटिल भँवर भरि भाँवरि मालति भुरै लई।
तजत न गहरु कियो कपटी जब जानी निरस गई॥
आनन इँदुबरन संमुख तजि करखे तें न नई।
निरमोही नहिं नेह, कुमुदिनी अन्तहि हेम हई॥
तन घनस्याम सेइ निसिबासर, रटि रसना छिजई।
सूर विवेक-हीन चातक-मुख बूँदौ तौ न सई॥

इसी प्रकार दूसरे स्थान पर वे अपने नेत्रों के उपमानों को अनुपयुक्त ठहराती हैं—

उपमा एक न नैन गही।
कविजन कहत कहत चलि आए, सुधि करि करि काहू न कही॥
कहे चकोर, मुख-विधु बिनु जीवन; भँवर न, तहँ उड़ि जात।
हरिमुख-कमलकोस बिछुरे तें ठाले क्यों ठहरात?
खंजन मनरंजन जन जौ पै, कबहुँ नाहिं सतरात।
पंख पसारि न उड़त, मंद ह्वै समर समीप बिकात॥
आए बधन व्याध ह्वै ऊधो, जौ मृग क्यों न पलाय।
देखत भागि बसै घन बन में जहँ कोउ संग न धाय॥
व्रजलोचन बिनु लोचन कैसे? प्रति छिन अति दुख बाढ़त।
सूरदास मीनता कछू इक, जल भरि संग न छाँड़त॥

दोनों उदाहरणों में उपमानों की उपयुक्तता और अनुपयुक्तता का जो आरोप किया गया है, वह हृदय के क्षोभ से उत्पन्न है, इसी से उसमें सरसता है, काव्य की योग्यता है। यदि कोई कठ-हुज्जती इन्हीं उपमानों को लेकर कहने लगे—"वाह! नेत्र भ्रमर कैसे हो सकते हैं? भ्रमर होते तो उड़ न जाते। मृग कैसे हो सकते हैं? मृग होते तो ज़मीन पर चौकड़ी न भरते"। तो उसके कथन में कुछ भी काव्यत्व न होगा।

उपमानों की आनंद-दशा का वर्णन करके इसी प्रकार सूर ने 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' द्वारा राधा के अंगों और चेष्टाओं का विरह से द्युतिहीन और मंद होना व्यंजित किया है—

तब तें इन सबहिन सचु पायो ।
जब तें हरि संदेस तिहारो सुनत ताँवरो आयो ॥
फूले व्याल दुरे तें प्रगटे, पवन पेट भरि खायो
ऊँचे बैठि बिहग-सभा बिच कोकिल मंगल गायो ॥
निकसि कँदरा तें केहरिहू माथे पूँछ हिलायो ।
बनगृह तें गजराज निकसि कै अँग अँग गर्व जनायो ॥

चेष्टाओं और अंगों का मंद और श्रीहीन होना कारण है, और उपमानों का आनंदित होना कार्य है। यहाँ अप्रस्तुत कार्य के वर्णन द्वारा प्रस्तुत कारण की व्यंजना की गई है। गोस्वामी तुलसीदास-जी ने जानकी के न रहने पर उपमानों का प्रसन्न होना राम के मुख से कहलाया है—

कुँदकली, दाड़िम, दामिनी। कमल, सरदससि, अहि-भामिनी ॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं ॥
सुनु जानकी! तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू ॥

पर यहाँ उपमानों के आनंद से केवल सीता के न रहने की व्यंजना होती है। सूर की 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' में उक्ति का चमत्कार भी कुछ विशेष है और रसात्मकता भी।

दूर की सूझ या ऊहावाले चमत्कार-प्रधान पद भी सूर ने बहुत से कहे हैं; जैसे—

(क) दूर करहु बीना कर धरिबो।
मोहे मृग नाहीं रथ हाँक्यो, नाहिं न होत चंद को ढरिबो ॥

(ख) मन राखन को वेनु लियो कर, मृग थाके उडुपति न चरै ।
अति आतुर ह्वै सिंह लिख्यो कर जेहि भामिनि को करुन टरै ॥

राधा मन बहलाने के लिए. किसी प्रकार रात बिताने के लिए, वीणा लेकर बैठीं । उस वीणा या वेणु के स्वर से मोहित होकर चंद्रमा के रथ का हिरन अड़ गया और चंद्रमा के रुक जाने से रात और भी बढ़ गई । इस पर घबरा कर वे सिंह का चित्र बनाने लगीं जिससे मृग डरकर भाग जाय । जायसी की 'पदमावत' में भी यह उक्ति ज्यों की त्यों आई है—

गहै बीन मकु रैनि बिहाई । ससि-बाहन तहँ रहै ओनाई ॥
पुनि धनि सिंह उरेहै लागै । ऐसिहि बिथा रैनि सब जागै ॥

जायसी की पदमावत विक्रम संवत् १५९७ में बनी और सूर-सागर संवत् १६०७ के लगभग बन चुका था । अतः जायसी की रचना कुछ पूर्व की ही मानी जायगी । पूर्व की न सही, तो भी किसी एक ने दूसरे से यह उक्ति ली हो, इसकी संभावना नहीं । उक्ति सूर और जायसी दोनों से पुरानी है । दोनों ने स्वतंत्र रूप में इसे कवि-परंपरा द्वारा प्राप्त किया ।

कहीं कहीं सूर ने कल्पना को अधिक बढ़ाकर, या यों कहिए कि ऊहा का सहारा लेकर—जैसा पीछे बिहारी ने बहुत किया—वर्णन कुछ अस्वाभाविक कर दिया है । चन्द्र की दाहकता से चिढ़कर एक गोपी राधा से कहती है—

कर धनु लै किन चंदहि मारि ?
तू हरुवाय जाय मंदिर चढ़ि ससि संमुख दर्पन बिस्तारि ।
याही भाँति बुलाय, मुकुर महि अति बल खंड खंड करि डारि ॥

गोपियों का विरहोन्माद कितना ही बढ़ा हो, पर उनकी बुद्धि

बिल्कुल बच्चों की सी दिखाना स्वाभाविक नहीं जँचता। कविता में दूर की सूझ या चमत्कार ही सब कुछ नहीं है।

पावस के घन-गर्जन आदि वियोगिनी को संतापदायक होते हैं, यह तो एक बँधी चली आती हुई बात है। सूर ने एक प्रसंग कल्पित करके इस बात को ऐसी युक्ति से रख दिया है कि इसमें एक अनूठापन आ गया है। वे कहते हैं कि पावस आने पर सखियाँ राधा को मालूम ही नहीं होने देतीं कि पावस आया है। वे और और बातें बताकर उन्हें बहकाती रहती हैं—

> बात बूझत यों बहरावति।
> सुनहु स्याम! वै सखी सयानी पावस ऋतु राधहि न सुनावति।
> घन गरजत तौ कहत कुसलमति गूंजत गुहा सिंह समझावति॥
> नहिं दामिनि, द्रुम-दवा सैल चढ़ी, फिरि बयारि उलटी झर लावति।
> नाहिं न मोर बकत पिक दादुर, ग्वाल-मँडली खगन खेलावति॥

सूर को वचन-रचना की चतुराई और शब्दों की क्रीड़ा का भी पूरा शौक़ था। बीच बीच में आए हुए कूट पद इस बात के प्रमाण है, जिनमें या तो अनेकार्थवाची शब्दों को लेकर या किसी एक वस्तु को सूचित करने के लिये अनेक शब्दों की लंबी लड़ी जोड़कर खेलवाड़ किया गया है। सूर की प्रकृति कुछ क्रीड़ाशील थी। उन्हें कुछ खेल-तमाशे का भी शौक़ था। लीलापुरुषोत्तम के उपासक कवि में यह विशेषता होनी ही चाहिए। तुलसी के गंभीर मानस में इस प्रवृत्ति का आभास नहीं मिलता। अपनी इस शब्द कौशल की प्रवृत्ति के कारण सूर ने व्यवहार के कुछ पारिभाषिक शब्दों को लेकर भी एक आध जगह उक्तियाँ बाँधी हैं; जैसे—

> साँचो सो लिखवार कहावै।
> काया-ग्राम मसाहत करि कै, जमा बाँधि ठहरावै।

मन्मथ करै कैद अपनी में, जान जहतिया लावै ॥

काव्य में इस प्रकार की उक्तियाँ ठीक नहीं होतीं। आचार्यों ने 'अप्रतीत्व' दोष के अंतर्गत इस बात का संकेत किया है। सूर भी एक ही आध जगह ऐसी उक्तियाँ लाए हैं; पर वे 'प्रेम फौजदारी' ऐसी पुस्तकों के लिए नमूने का काम दे गई हैं।

यहाँ तक तो सूरदासजी की कुछ विशेषताओं का अनुसंधान हुआ। अब उनकी पूर्ण रचना के संबंध में कुछ सामान्य मत स्थिर करना चाहिए। पहले तो यह समझ रखना चाहिए कि सूरसागर वास्तव में एक महासागर है जिसमें हर एक प्रकार का जल आकर मिला है। जिस प्रकार उसमें मधुर अमृत है उसी प्रकार कुछ खारा, फीका और साधारण जल भी। खारे, फीके और साधारण जल से अमृत को अलग करने में विवेचकों को प्रवृत्त रहना चाहिए। सूरसागर में बहुत से पद बिल्कुल साधारण श्रेणी के मिलेंगे। एक ही पद में भी कुछ चरण तो अनूठे और अद्वितीय मिलेंगे और कुछ साधारण, और कभी कभी तो भरती के। कई जगह वाक्य-रचना अव्यवस्थित मिलेगी और छंद या तुकांत में खपाने के लिए शब्द भी कुछ विकृत किए हुए, तोड़े मरोड़े हुए, पाए जायँगे; जैसे 'रहत' के लिए 'राहत', 'जितेक' के लिए 'जितेत', 'पानी' के लिए 'पान्यों' इत्यादि। व्याकरण के लिए लिंग आदि का विपर्यय या अनियम भी कहीं कहीं मिल जाता है। जैसे, 'सूल' शब्द कहीं पुल्लिग आया है, कहीं स्त्रीलिंग। सारांश यह कि यदि हम भाषा पर सामान्यतः विचार करते हैं तो वह सर्वत्र तुलसी की सी गठी हुई, सुव्यवस्थित और अपरिवर्त्तनीय न मिलेगी। कहीं कहीं किसी वाक्य या किसी चरण तक को हम बदल दें तो कोई हानि न होगी। किसी किसी पद में कुछ वाक्य कुछ

विशेष अर्थ-शक्ति नहीं रखते; चरण की पूर्ति करने का ही काम देते जान पड़ते हैं। बात यह है कि नित्य कुछ न कुछ पद बनाना उनका नियम था। उन्होंने बहुत अधिक पद कहे हैं। फुटकर पद कहते चले गए हैं; इससे एक ही भाववाले बहुत से पद भी आ गए हैं और कहीं कहीं भाषा भी शिथिल हो गई है। अंधे होने के कारण लिखे पदों को सामने रखकर काटने छाँटने या हरताल लगाने का उन्हें वैसा मौका न था जैसा तुलसीदास को।

उपासना-पद्धति के भेद के कारण सूर और तुलसी की रचना में जो भेद कहा जाता है उस पर भी थोड़ा ध्यान देना चाहिए। तुलसी की उपासना सेव्य-सेवक भाव से कही जाती है और सूर की सख्य भाव से। यहाँ तक कि भक्तों में सूरदासजी श्रीकृष्ण के सखा उद्धव के अवतार कहे जाते हैं। यहाँ पर हमें केवल यह देखना है कि इस उपासना-भेद का सूर की रचना के स्वरूप पर क्या प्रभाव पड़ा है। यदि विचार करके देखा जाय तो सूर में जो कुछ संकोच का अभाव या प्रगल्भता पाई जाती है वह गृहीत विषय के कारण। इन्होंने वात्सल्य और शृंगार ही वर्णन के लिए चुने हैं। जिसे बालक्रीड़ा और शृंगारक्रीड़ा का अत्यंत विस्तृत वर्णन करना है वह यदि संकोच भाव छोड़ लड़कों की नटखटी, यौवन-सुलभ हास परिहास आदि का वर्णन न करेगा तो काम कैसे चलेगा? कालिदास ने भी कुमार-संभव में पार्वती के अंग-प्रत्यंग का शृंगारी वर्णन किया है। तो क्या उनकी शंकर की उपासना भी सख्य भाव की हुई और उनका वह वर्णन उसी सख्य भाव के कारण हुआ? थोड़ा सा ध्यान देने से ही यह जाना जा सकता है कि आरंभ में सूर ने जो बहुत दूर तक विनय के पद कहे हैं, वे दीन सेवक या दास के रूप ही कहे हैं

मिलान करने पर सूर की विनयावली और तुलसी की विनय-पत्रिका में सखा और सेवक का कोई भेद न पाया जायगा। विनय में सूर भी ऐसा ही कहते पाए जायँगे—"प्रभु! हौं सब पतितन को टीको"। यों तो तुलसी भी प्रेम-भाव में मग्न हो सामीप्य और घनिष्ठता अनुभव करते हुए 'पूतरा बाँधने' के लिए तैयार होकर गए हैं और शबरी आदि को तारने पर कहते हैं—"तारेहु का रही सगाई ?"

इसी सांप्रदायिक प्रवाद से प्रभावित होकर कुछ महानुभावों ने सूर और तुलसी में प्रकृति-भेद बताने का प्रयत्न किया है और सूर को खरा तथा स्पष्टवादी और तुलसी को सिफारशी, खुशामदी या लल्लो-चप्पो करनेवाला वहा है। उनकी राय में तुलसी कभी राम की निंदा नहीं करते; पर सूर ने "दो चार स्थानों पर कृष्ण के कामों की निंदा भी की है; यथा—

(क) तुम जानत राधा है छोटी।

हम सों सदा दुरावति है यह, बात कहै मुख चोटी पोटी॥
नँदनंदन याही के बस हैं, बिवस देखि वेंदी छबि चोटी।
सूरदास प्रभु वै अति खोटे, यह उनहूँ तें अति ही खोटी॥

(ख) सखी री! स्याम कहा हित जानै।

सूरदास सर्बस जौ दीजै कारो कृतहि न मानै॥"

पर यह कथन कहाँ तक ठीक है, इसका निर्णय इस प्रश्न के उत्तर द्वारा झटपट हो सकता है। "सूरदास प्रभु वै अति खोटे" "कारो कृतहि न मानै" इन दोनों वाक्यों में वाच्यार्थ के अतिरिक्त संलक्ष्य असंलक्ष्य किसी प्रकार का व्यंग्यार्थ भी है या नहीं ? यदि किसी प्रकार का व्यंग्य नहीं है तो उक्त कथन ठीक हो सकता है। पर किसी प्रकार का व्यंग्यार्थ न होने पर ये दोनों वाक्य रसात्मक

भाग्य को सराहा है। यह भी याद ही दिलाना है कि कृष्ण परमेश्वर हैं।

सूरदास जी अपने भाव में मग्न रहनेवाले थे, अपने चारों ओर की परिस्थिति की आलोचना करनेवाले नहीं। संसार में क्या हो रहा है, लोक की प्रवृत्ति क्या है, समाज किस ओर जा रहा है, इन बातों की ओर उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया है। तुलसीदासजी लोक की गति के सूक्ष्म पर्यालोचक थे। वे उसके बीच पैदा होनेवाली बुराइयों को तीव्र दृष्टि से देखनेवाले थे। जिस प्रकार उन्होंने अपने समय की जनता की दुःख दशा और दुर्वृत्ति तथा मर्यादा के ह्रास पर दृष्टिपात किया है, उसी प्रकार लोक-मर्यादा के ह्रास में सहायता पहुँचानेवाली प्रच्छन्न शक्तियों को भी पहचाना है। किस प्रकार उन्होंने कबीर, दादू आदि के लोक-विरोधी स्वरूप को पहचान कर उनके उद्धत व्यक्तिवाद के विरुद्ध घोषणा की, यह हम गोस्वामीजी की आलोचना में दिखा चुके हैं।* सूरदासजी अपने भाव-भजन और मंदिर के नृत्य गीत में ही लीन रहते थे; इन सब अंदेशों से बहुत दुबले नहीं रहते थे। पर "निर्गुन बानी" की जो हवा बह रही थी, उसकी ओर उनके कान अवश्य थे।

तुलसी की आलोचना में हम सूचित कर चुके हैं कि तुलसी का व्रजभाषा और अवधी दोनों काव्य-भाषाओं पर तुल्य अधिकार था और उन्होंने जितनी शैलियों की काव्य-रचना प्रचलित थी उन सब पर बहुत उत्कृष्ट रचना की है। यह बात सूर में नहीं है। सूरसागर की पद्धति पर वैसी ही मनोहारिणी और सरस रचना

---

* देखिए काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित "गोस्वामी तुलसीदास" नामक ग्रंथ।

तुलसी की 'गीतावली' मौजूद है; पर रामचरितमानस और कवितावली की शैली की सूर की कोई कृति नहीं है। इसके अतिरिक्त मनुष्य-जीवन की जितनी अधिक दशाएँ, जितनी अधिक वृत्तियाँ, तुलसी ने दिखाई हैं, उतनी सूर ने नहीं। तुलसी ने अपने चरित्र-चित्रण द्वारा जैसे विविध प्रकार के ऊँचे आदर्श खड़े किए हैं वैसे सूर ने नहीं। तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है और सूर की एकमुखी। पर एकमुखी होकर उसने अपनी दिशा में जितनी दूर तक की दौड़ लगाई है उतनी दूर तक की तुलसी ने भी नहीं; और किसी कवि की तो बात ही क्या है। जिस क्षेत्र को सूर ने चुना है उस पर उनका अधिकार अपरिमित है, उसके वे सम्राट् हैं।

सूर की विशेषताओं के इस संक्षिप्त दिग्दर्शन को समाप्त करने के पहले इतना और कह देने को जी चाहता है कि सूर में सांप्रदायिकता की छाप तुलसी की अपेक्षा अधिक है। अष्टछाप में वे थे ही। उन्होंने अनन्य उपासना के अनुसार कृष्ण या हरि को छोड़ और देवताओं की स्तुति नहीं की है। ग्रंथारँभ में भी प्रथानुसार गणेश या सरस्वती को याद नहीं किया है। पर तुलसीदासजी की वँदना कितनी विस्तृत है, यह रामचरितमानस और विनय-पत्रिका के पढ़नेवाले मात्र जानते हैं। उनमें लोक-संग्रह का भाव पूरा पूरा था। उनकी दृष्टि लोक-विस्तृत थी। जन-समाज के बीच या कम से कम हिंदू-समाज के बीच—परस्पर सहानुभूति और संमान का भाव तथा सुखद व्यवस्था स्थापित देखने का अभिलाष भी उनमें बहुत कुछ थी। शिव और राम को एक दूसरे का उपासक बनाकर उन्होंने शैवों और वैष्णवों में भेदबुद्धि रोकने का प्रयत्न किया था। पर सूरदासजी का इन सब बातों की ओर ध्यान नहीं था।

जो तुलसीदासजी के ग्रंथों को पढ़ता है वह उन्हें देवताओं से उदासीन भी नहीं समझता; उनका शत्रु और द्रोही समझना तो दूर रहा। इतने पर भी कुछ लोगों ने वनवास के करुण-प्रसंग के भीतर अथवा राम के महत्त्व आदि की भावना में लीन करनेवाले किसी पद में "सुर स्वारथी" आदि शब्द देखकर यह कहना बहुत जरूरी समझा है कि "सूर ने तुलसी के समान देवताओं को गालियाँ नहीं दी हैं"। इस पर यही समझ कर रह जाना पड़ता है कि यह मत-वैलक्षण्य के प्रदर्शन का युग है।

सूर की विशेषताओं पर स्थूल रूप से इतना विचार करने के उपरांत अब हम उनकी उस संगीत-भूमि में थोड़ा प्रवेश करते हैं जो 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध है और जिसमें वचन की भाव-प्रेरित वक्रता द्वारा प्रेम-प्रसूत न जाने कितनी अंतर्वृत्तियों का उद्घाटन परम मनोहर है। 'भ्रमरगीत' का प्रसंग इस प्रकार आया है। श्रीकृष्ण अक्रूर के साथ कंस के निमंत्रण पर मथुरा गए और वहाँ कंस को मारकर अपने पिता वसुदेव का उद्धार किया। इसी बीच में कुब्जा नाम की कंस की एक दासी को उसकी सेवा से प्रसन्न होकर उन्होंने अपने प्रेम की अधिकारिणी बनाया। जब अवधि बीत जाने पर भी वे लौटकर गोकुल न आए तब नंद, यशोदा तथा सारे व्रजवासी बड़े दुखी हुए। उन गोपियों के विरह का क्या कहना है जिनके साथ उन्होंने इतनी क्रीड़ाएँ की थीं। बहुत दिनों पीछे श्रीकृष्ण ने ज्ञानोपदेश द्वारा गोपियों को समझाने बुझाने के लिए अपने सखा उद्धव को व्रज में भेजा। उद्धव ही को क्यों भेजा? कारण यह था कि उद्धव को अपने ज्ञान का बड़ा गर्व था, प्रेम या भक्ति-मार्ग की वे उपेक्षा करते थे। कृष्ण का उन्हें गोपियों के पास भेजने में यह अभिप्राय था कि वे उनकी प्रीति की

गूढ़ता और तन्मयता देखकर शिक्षा ग्रहण करें और सगुण भक्ति-मार्ग की सरसता और सुगमता के सामने उनका ज्ञान-गर्व दूर हो—

जदुपति जानि उद्धव-रीति ।
जेहि प्रगट निज सखा कहियत करत भाव अनीति ॥
बिरह-दुख जहँ नाहिं जामत, नाहिं उपजत प्रेम ।
रेख, रूप न बरन जाके यह धरयो वह नेम ॥
त्रिगुन तन करि लखत हमकों, ब्रह्म मानत और ।
बिना गुन क्यों पुहुमि उधरै, यह करत मन डौर ॥
बिरह-रस के मंत्र कहिए क्यों चलै संसार ।
कछु कहत यह एक प्रगटत, अति भरयो हंकार ॥
प्रेम भजन न नेकु याके, जाय क्यों समझाय ?
सूर प्रभु मन यहै आनी, ब्रजहि देहुँ पठाय ॥

"त्रिगुन तन करि लखत हमकों, ब्रह्म मानत और" इसी भ्रम का निवारण कृष्ण चाहते थे । जगत् से ब्रह्म को सदा अलग मानना, जगत् की नाना विभूतियों में उसे न स्वीकार करना भक्ति-मार्गियों के निकट बड़ी भारी भ्रांति है । "अहमात्मा गुडाकेश, सर्वभूताशयस्थित:" इस भगवद्वाक्य को मन में बैठाए हुए भक्त-जन गीता के इस उपदेश के अनुसार भगवान् के व्यक्त स्वरूप की ओर आकर्षित रहते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

उद्धव बात बात में "एक प्रगटत" —अद्वैतवाद का राग अलापते थे । पर "बिरह-रस के मंत्र कहिए क्यों चलै संसार ?"—रस-विहीन उपदेशसे लोक-व्यवहार कैसे चल सकता है ? रसविहीन उपदेश किस प्रकार असर नहीं करते, यहीं दिखाने को भ्रमरगीत की रचना हुई है ।

उद्धव के व्रज में दिखाई पड़ते ही सारे व्रजवासी उन्हें घेर लेते हैं। वे नंद यशोदा से सँदेसा कह चुकने के उपरांत गोपियों की ओर फिर कर कृष्ण के संदेश के रूप में ज्ञान-चर्चा छेड़ते हैं। इसी बीच में एक भौंरा उड़ता उड़ता गोपियों के पास आकर गुनगुनाने लगता है—

यहि अंतर मधुकर इक आयो।
निज सुभाव अनुसार निकट होइ सुन्दर शब्द सुनायो॥
पूछन लागीं ताहि गोपिका "कुबजा तोहिं पठायो।
कैधौं सूर स्यामसुन्दर को हमैं सँदेसो लायो?"॥

फिर तो गोपियाँ मानो उसी भ्रमर को संबोधन करके जो जो जी में आता है, खरी खोटी, उलटी सीधी, सब सुना चलती हैं। इसी से इस प्रसंग का नाम 'भ्रमरगीत' पड़ा है। कभी गोपियाँ उद्धव का नाम लेकर कहती हैं, कभी उसी भ्रमर को संबोधन करके कहती हैं—विशेषतः जब परुष और कठोर वचन मुँह से निकालना होता है। शृंगार रस का ऐसा सुन्दर 'उपालंभ काव्य' दूसरा नहीं है।

उद्धव को देखते ही गोपियों को संबंध-भावना के कारण कृष्ण के मिलने का सा सुख हुआ—

ऊधो! पा लागों भले आए।
तुम देखे जनु माधव देखे, तुम त्रय ताप नसाए॥

प्रिय के संबंध से बहुत सी वस्तुएँ प्रिय लगने लगती हैं। यही बात यहाँ अपने स्वाभाविक रूप में दिखाई गई है। इसी को बढ़ाकर बिहारी कुछ और दूर तक ले गए हैं। उनकी नायिका को नायक के भेजे हुए पंखे की हवा लगने से उलटा और पसीना होता है। यह एक तमाशे की बात जरूर हो गई है—

हित करि तुम पठयो, लगे वा बिजना की बाय।
टरी तपनि तन की तऊ चली पसीने न्हाय॥

सूर ने भी प्रिय की वस्तु पाकर 'सात्त्विक' होना दिखाया है, पर तमाशे के रूप में नहीं, अत्यंत स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी रूप में तथा अत्यंत अर्थ-प्राचुर्य के साथ। उद्धव के हाथ से श्याम की पत्री राधा अपने हाथ में लेती हैं और—

निरखत अंक स्यामसुन्दर के बार बार लावति छाती।
लोचन-जल कागद-मसि मिलिकै ह्वै गइ स्याम स्याम की पाती॥

आँसुओं से भींगकर स्याही के फैलने से सारी चिट्ठी काली हो गई, इससे कृष्ण-संबंध की भावना के कारण प्रबल प्रेमोद्रेक सूचित हुआ। आगे देखिए तो इस प्रेमोद्रेक की तीव्रता व्यंजित करने के लिए 'अंक' और 'स्याम' शब्दों में श्लेष कैसा काम कर रहा है। पत्री पाकर वैसा ही प्रेम उमड़ा जैसा कृष्ण को पाकर उमड़ता। कृष्ण की पत्री ही उनके लिए कृष्ण हो गई। जैसे वे कृष्ण के अंक (गोद अर्थात् शरीर) को पाकर आलिंगन करतीं वैसे ही कृष्ण के लिखे अंक (अक्षर) देखकर वे पत्री को बार बार हृदय से लगाती हैं। यहाँ भावाधिपति सूर ने भाव का और आधिक्य व्यंजित करने के लिए शब्दसाम्य की सहायता ऐसे कौशल से ली है कि एक बार शब्दों का साधारण अर्थ (अक्षर और काला) लेने से जिस भाव की अधिकता सूचित हुई फिर आगे उनका श्लिष्ट अर्थ (गोद और श्रीकृष्ण) लेने से उसी भाव की और अधिकता व्यंजित हुई। इससे जो लाघव हुआ है—मज़मून में जो चुस्ती आई है—वह तो है ही, साथ ही प्रेम के अन्तर्भूत एक मानसिक दशा के चित्र का रंग कैसा चटकीला हो गया है! शब्दसाम्य को उपयोग में लानेवाला सच्चा कवि-कौशल यही है।

यदि केशवदास के ढंग पर सूर भी यहाँ उक्त शब्दसाम्य को लेकर 'कृष्ण' और 'पत्री' की तुलना पर जोर देने लगते—कहते कि पत्री मानो कृष्ण ही है, क्योंकि वह भी श्याम है और उसके भी अङ्क (वक्षस्थल) है—तो काव्य की रमणीयता कुछ भी न आती। राधा को वह पत्री जो कृष्ण के समान लग रही है, वह सादृश्य या साधर्म्य के कारण नहीं, बल्कि संबंध-भावना के कारण, कृष्ण के हाथ की लिखी होने के कारण। केवल शब्दात्मक साम्य को लेकर यदि हम किसी पहाड़ को कहें कि यह बैल है क्योंकि इसे भी 'शृंग' हैं, तो यह काव्यकला तो न होगी, और कोई कला हो तो हो। क्या जरूरत है कि शब्दों की जितनी कलाबाजियाँ हों, सब काव्य ही कहलावें ?

गोपियाँ कहती हैं कि हम ने इतने सँदेसे भेजे हैं कि शायद उनसे मथुरा के कूएँ भर गए होंगे ; पर जो सँदेसा लेकर जाता है वह लौटता नहीं—

सँदेसनि मधुबन कूप भरे।
जो कोउ पथिक गए हैं ह्याँ तें फिरि नहिं गवन करे॥
कै वै स्याम सिखाय समोधे, कै वै बीच मरे?
अपने नहिं पठवत नन्द-नन्दन हमरेउ फेरि धरे॥
मसि खूँटी, कागर जल भीजे, सर दव लागि जरे।

प्रिय से संबंध रखनेवाले व्यक्तियों या वस्तुओं का प्रिय लगना ऊपर दिखा आए हैं। इस पद में प्रेमाभिलाप की पूर्त्ति में जो वस्तुएँ बाधक होती हैं, सहायक नहीं होतीं या उपयोग में नहीं आतीं, उनके ऊपर बड़ी सुन्दर झल्लाहट स्त्रियों की स्वाभाविक बोली में प्रकट की गई है। पथिक सँदेसा लेकर गए, पर न लौटे ; न जाने कहाँ मर गए ! कोई चिट्ठी भी नहीं आती है। मथुरा भर

में स्याही ही चुक गई; या कागज़ भींगकर गल गए अथवा सरकंडों में (जिनकी क़लम बनती है) आग लग गई, वे जल गए ?

जो कोई पथिक उधर से होकर निकलता है उसे रोककर गोपियाँ अपना सँदेसा कहने लगती हैं। अब तो यह दशा है कि इसी डर से पथिकों ने उधर से होकर जाना ही छोड़ दिया है —

सूरदास संदेसन के डर पथिक न वा मग जात।

ज्यों ही उद्धव अपना ज्ञान-संदेश सुनाना आरंभ करते हैं त्यों ही गोपियाँ चकपका कर पूछने लगती हैं—

हम सों कहत कौन की बातें ?
सुनि, ऊधो ! हम समझति नाहिं, फिरि बूझति हैं तातें ॥
को नृप भयो, कंस किन मारयो, को बसुद्यौ-सुत आहि ?
यहाँ हमारे परम मनोहर जीजत हैं मुख चाहि ॥

गोपियों को यह 'चकपकाहट' उद्धव की बात की असंगति पर होती है। जिसने ऐसा सँदेसा भेजा है वह न जाने कौन है। परम प्रेमी कृष्ण तो हो नहीं सकते। इसका तात्पर्य्य यह नहीं कि वे सचमुच उद्धव को कृष्ण का दूत नहीं समझ रही हैं। वे केवल विश्वास करने की अपनी अतत्परता और आश्चर्य मात्र व्यंजित कर रही हैं। कृष्ण के संबंध से उद्धव भी गोपियों को प्रिय और अनोखे लग रहे हैं। इसी से बीच बीच में वे उन्हें बनाने और उनसे परिहास करने लगती हैं। वे कृष्ण पर भी फबती छोड़ती हैं और उद्धव को भी बनाती हैं—

ऊधो ! जान्यो ज्ञान तिहारो।
जानै कहा राजगति-लीला अंत अहीर बेचारो ॥
आवत नाहीं लाज के मारे, मानहु कान्ह खिसान्यो।
हम सबै अयानी, एक सयानी कुबजा सों मन मान्यो ॥

ऊधो जाहु बाहँ धरि ल्याओ सुन्दर स्याम पियारो।
ब्याहौ लाख, धरौ दस कुबरी, अँतहि कान्ह हमारो ॥

परिहास के अतिरिक्त अन्तिम चरण में प्रेम की उच्च दशा के 'औदार्य्य' की कैसी साफ़ झलक है।

उद्धव कहते जाते हैं, पर गोपियाँ के मन में यह बात समाती ही नहीं कि यह कृष्ण का सँदेसा है। कभी वे कहती हैं—"ऊधो! जाय बहुरि सुनि आवहु कहा कह्यो है नंदकुमार"; कभी कहती हैं—"स्याम तुम्हैं ह्याँ नाहिं पठाए, तुम हौ बीच भुलाने"। जब उद्धव बकते ही जाते हैं तब वे और भी बनाती हैं; कहती हैं कि जरा अपने होश की दवा करो—

ऊधो! तुम अपनो जतन करौ।
हित की कहत कुहित की लागै, किन बेकाज ररौ?
जाय करौ उपचार आपनो, हम जो कहत हैं जी की।
कछू कहत कछुवै कहि डारत, धुन देखियत नहिं नीकी ॥

बीच-बीच में वे खिझला भी उठती हैं और कहती हैं कि तुम्हारे मुँह कौन लगे, तुम तो सनक गए हो। वहाँ सिर खाने लगे थे तभी तुम्हें यहाँ भेजकर श्रीकृष्ण ने अपना पल्ला छुड़ाया—

साधु होय तेहि उत्तर दीजै तुम सों मानी हारि।
याही तें तुम्हें नन्दनन्दन जू यहाँ पठाए टारि ॥

फिर चित्त में कुछ विनोद-वृत्ति के आ जाने पर वे कहती हैं—"भाई! खूब आए! इस दुःख-दशा में भी अपनी बेढब बातों से एक बार लोगों को हँसा दिया—

ऊधो! भली करी तुम आए।
ये बातें कहि कहि या दुख में ब्रज के लोग हँसाए" ॥

प्रेम के जिस हास-क्रीड़ामय स्वरूप को सूर ने लिया है, विश्र-

लंभ दशा के अश्रु और दीर्घ निश्वास के बीच-बीच में भी बराबर उसकी क्षणिक और क्षीण रेखा झलक जाती है। श्याम गोपियों के पास नहीं हैं; उनके सखा ही संयोग से उनके बीच आ फँसे हैं जो सदा उनके पास रहते हैं। बस यही संबंध-भावना कृष्ण के संदेश की विलक्षणता की भावना के साथ मिलते ही रह रहकर थोड़ी देर के लिए वृत्ति को विनोदमयी कर देती है—

ऊधो हम आज भईं बड़भागी।
बिसरे सब दुख देखत तुमकों, स्यामसुन्दर हम लागीं।
ज्यों दर्पन मधि दृग निरखत जहँ हाथ तहाँ नहिं जाई।
त्यों ही सूर हम मिलो साँवरे बिरह-बिथा बिसराई॥

मध्यस्थ द्वारा संयोग-सूत्र का कैसा सुंदर स्पष्टीकरण सूर ने किया है! जो संबंध-भावना बीच बीच में गोपियों की वृत्ति विनोद-मयी कर देती है वह कभी कभी स्पष्ट शब्दों में निर्दिष्ट होकर सामने आ जाती है और पाठक उसे पहचान सकते हैं; जैसे—

मधुकर ! जानत है सब कोऊ।
जैसे तुम औ मीत तुम्हारे, गुननि निपुन हौ दोऊ॥
पाके चोर, हृदय के कपटी, तुम कारे औ वोऊ।

उद्धव को जो 'पक्के चोर और कपटी' प्रेम के ये संबोधन मिल रहे हैं वह कृष्ण के संसर्ग के प्रसाद से।

ऐसेई जन दूत कहावत।
ऐसी परकृति परति छाहँ की जुबतिन जोग बुझावत॥

गोपियाँ कहती हैं कि बैठे बैठे योग और ज्ञान का संदेसा भेजनेवाले कैसे हैं, यह हम अच्छी तरह जानती हैं—

हम तौ निपट अहीरि बावरी जोग दीजिए ज्ञानिन।
कहा कथत मामी के आगे जानत नानी नानन॥

कृष्ण की संबंध-भावना स्थान को भी कुछ अनुरंजक रू प्रदान करती है—

> बिलग जनि मानहु, ऊधो प्यारे !
> वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे ॥
> तुम कारे, सुफलक-सुत कारे, कारे धुप भँवारे ।

गोपियाँ कहती हैं—'तुम्हारा दोष नहीं। वह स्थान ही ऐस हो रहा है जहाँ से तुम आ रहे हो। एक कृष्ण से वहाँ ऐसं कृष्णता छा रही है कि तुम काले हो; अक्रूर जो आए थे वे भ ऐसे ही काले थे; और यह घूमता हुआ भौंरा भी (जो बहुत दि वहाँ न रहा होगा, घूमता फिरता कभी जा पड़ा होगा) वैस ही काला है।

उद्धव अपने ज्ञानोपदेश की भूमिका ही बाँध रहे थे वि गोपियों के मन में कुछ कुछ 'शंका' होने लगी—

> मधुकर ! देखि स्याम तन तेरो।
> हरिमुख की सुनि मीठी बातैं डरपत हैं मन मेरो ॥
> अब लौं कौन हेतु गावत है हम्ह आगे यह गीत।
> सूर इते सों गारि कहा है जौ पै त्रिगुन-अतीत ॥

'त्रिगुणातीत' होंगे, हमें इससे क्या ? तू क्यों बार बार य कहता है ? कुछ भेद जान नहीं पड़ता।

उद्धव को कभी एक भोलाभाला आदमी ठहराकर गोपिय अनुमान करती हैं कि कहीं श्रीकृष्ण ने यह संदेसा इनके हा भेजकर हँसी न की हो और ये इसे ठीक मानकर बक बक क रहे हों। यही पता लगाने के लिए वे उद्धव से पूछती हैं— "अच्छा, यह तो बताओ कि जब वे तुम्हें संदेश कहकर भेज लगे थे तब कुछ मुस्कराए भी थे ?"

ऊधो ! जाहु तुम्हैं हम जाने।
साँच कहौ तुमको अपनी सौं, बूझत बात निदाने॥
सूर स्याम जब तुम्हैं पठाए तब नेकहु मुसकाने ?

यह अनुमान या 'वितर्क' रागात्मिका वृत्ति से सर्वथा निर्लिप्त शुद्ध बुद्धि की क्रिया नहीं है। संचारी 'मति' के समान यह भी भावप्रेरित है; हृदय की रागद्वेष वृत्ति से संबंध रखता है। किसी बात को मानने न मानने की भी रुचि हुआ करती है। कृष्ण के प्रेम को गोपियाँ छोड़ना नहीं चाहतीं; अतः यह बात मानने को उनका जी नहीं करता कि कृष्ण ने ऐसा अप्रिय संदेश भेजा होगा। जिस बात को कोई मानना नहीं चाहता उसको न मानने के वह हज़ार रास्ते ढूँढ़ता है। बस, गोपियों के अन्तःकरण की यही स्थिति ऊपर के पद में दिखाई गई है।

उद्धव के ज्ञान-योग की गोपियाँ कितनी क़द्र करती हैं, अब थोड़ा यह भी देखिए। जो ऐसी चीज़ ढोए फिरता है जिसे बहुत से लोग बिल्कुल निकम्मी समझ रहे हैं उसे वे बेवकूफ़ समझकर ही नहीं रह जाते, बल्कि बनाने में भी कभी कभी पूरी कल्पना खर्च करते हैं। बेवकूफ़ी पर हँसने का रिवाज बहुत पुराना है। लोग बना बनाया बेवकूफ़ पाकर हँसते भी हैं और हँसने के लिए बेवकूफ़ बनाते भी हैं। हास की प्रेरणा ही कल्पना को मूर्ख का स्वरूप जोड़ने और वाणी को कुछ शब्द-रचना करने में तत्पर करती है। गोपियाँ कुछ कुछ इसी प्रेरणावश उद्धव से नीचे लिखी बात उस समय कहती हैं जब वे घबराकर उठने को तैयार होते हैं—

उद्धव ! जोग बिसरि जानि जहु।
बाँधहु गाँठ, कहूँ जनि छूटै, फिरि पाछे पछिताहु॥

ऐसी वस्तु अनूपम, मधुकर ! मरम न जानै और।
ब्रजवासिन के नाहिं काम की, तुम्हरे ही है ठौर ॥

"देखना, अपना योग कहीं भूल न जाना। गाँठ में बाँध रखो; कहीं छूट जाय तो फिर पीछे पछताओ। ऐसी वस्तु जिसका मर्म सिवा तुम्हारे या तुम्हारे ऐसे दो चार फालतू दिमाग़वालों के और कोई जान ही नहीं सकता, ब्रजवासियों के किसी काम की नहीं। ऐसी फालतू चीज के लिए तुम्हारे ही यहाँ जगह होगी, यहाँ नहीं है"। जिसके सखा के दर्शन से विरह से मुरझाई हुई गोपियों में इतनी चपलता आ गई कि वे लड़कों की तरह चिढ़ाने को तैयार हो गई उसके दर्शन से उनमें कितनी सजीवता आती, यह समझने की बात है। ज्ञानयोग पर भी कैसी मीठी चुटकी है। जिसे केवल एक आध आदमी समझते हैं वह वस्तु सबके काम की नहीं हो सकती। उद्धव जब उसे गले लगाते हैं तब गोपियों का भाव बदलता है और वे उन्हें सीधे सादे बेवकूफ़ नहीं लगते, बल्कि एक ठग या धूर्त के रूप में दिखाई पड़ते हैं। यह भावांतर उनकी कल्पना को कैसा चित्र खड़ा करने में लगाता है, देखिए—

(क) आयो घोष बड़ो व्यापारी।
लादि खेप यह ज्ञान-जोग की ब्रज में आय उतारी ॥
फाटक दै कर हाटक माँगत भोरी निपट सु धारी।

(ख) ऊधो! ब्रज में पैंठ करी।
यह निर्गुन निर्मूल गाठरी अब किन करहु खरी ॥
नफ़ा जानिकै ह्याँ लै आए सबै वस्तु अकरी।

उदाहरण (ख) में 'निर्मूल' शब्द कितना अर्थ-गर्भित है। साधारण दृष्टि से तो यही अर्थ दिखाई पड़ता है कि 'बिना जड़ पत्ते की वस्तुवाली' अर्थात् जिसमें कुछ भी नहीं है, शून्य है! पर

साथ ही इस अर्थ का भी पूरा संकेत मिलता है—"जिसमें कुछ मूलधन या पास की पूँजी नहीं लगी है" अर्थात् वह (ज्ञान-गठरी) केवल किसी के मुँह से सुनकर इकट्ठी कर ली गई है, उसमें हृदय नहीं लगा है—लग ही नहीं सकता—जो मनुष्य की असल पूँजी है। सूर ने यहाँ जिस बात को इस मार्मिक ढंग से कहा है उसी को गोस्वामी तुलसीदासजी ने दार्शनिक निरूपण के ढंग पर 'स्वानुभूति' और 'वाक्य-ज्ञान' का भेद बताकर कहा है—

> वाक्य-ज्ञान अत्यँत निपुन भव पार न पावै कोई।
> जिमि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई॥

पूर्ण तत्त्वाभास केवल कोरी बुद्धि की क्रिया से नहीं हो सकता, यह बात शंकराचार्य्य ऐसे प्रचंड बुद्धि के दार्शनिक को भी माननी पड़ी थी। पारमार्थिक सत्ता के बोध की संभावना उन्होंने बहुत कुछ स्वानुभूति द्वारा कही है, केवल शब्दबोध या तर्क द्वारा नहीं। वर्त्तमान समय का सबसे आगे बढ़ा हुआ दार्शनिक बर्गसन (Bergson) भी कोरी बुद्धि-क्रिया को एकांगी, भ्रांति-जनक और असमर्थ बताकर स्वानुभूति (Intution) की ओर संकेत कर रहा है। एडवर्ड कार्पेंटर ने भी अपनी प्रसिद्ध अँगरेजी पुस्तक Civilization, its Causes and Cure में वर्त्तमान समय की उस वैज्ञानिक प्रवृत्ति का विरोध किया है जिसमें बुद्धि-क्रिया ही सब कुछ मानी गई है, मनुष्य के हृदय-पक्ष तथा स्वानुभूति-पक्ष का एक दम तिरस्कार कर दिया है। उसने 'शब्दबोध की प्रणाली' को 'अज्ञान प्रणाली' कहा है। वर्त्तमान काल के प्रसिद्ध उर्दू शायर अकबर ने भी 'बुद्धि-रोग' से छुटकारा, पाने पर खुशी जाहिर की है—"मैं मरीज़े होश था, मस्ती ने अच्छा कर दिया"। यही पक्ष तुलसी, सूर आदि भक्तों का भी रहा है। गोस्वामी तुलसी-

दासजी ने स्पष्ट कह दिया है कि अज्ञान ही के द्वारा--शब्दबोध के ही सहारे—तो ज्ञान की बातें कही जाती हैं। वे ललकारकर कहते हैं—"ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, सो गुरु, तुलसीदास"।

जब उद्धव की बकवाद बंद नही होती, वे ऐसी बातें बकते ही जाते हैं जो गोपियों को बे सिर पैर की लगती हैं, जिनका कुछ स्पष्ट अर्थ नहीं जान पड़ता, तब वे ऊबकर झुँझला उठती हैं। कहती हैं—"तुझसे कौन सिरपच्ची करे—'ऐसी को ठाली बैठी है तोसों मूड़ खपावै' कह दिया कि तेरा सिर पटकना व्यर्थ है'।

"कत श्रम करत, सुनत को ह्याँ है ? होत ज्यों बन को रोयो।
सूर इते पै समझत नाहीं, निपट दई को खोयो।"

"निपट दई को खोयो"—स्त्रियों की झुँझलाहट के कैसे स्वाभाविक वचन हैं ! अँत में वे उद्धव पर इस प्रकार झल्ला उठती हैं—

(क) ऊधो ! राखति हौं पति तेरी।
ह्याँतें जाहु, दुरहु आगे तें, देखति आँखि बरति हैं मेरी॥
ते तौ तैसेइ दोउ बने हैं, वै अहीर, वह कंस की चेरी।

(ख) रहु रे मधुकर मधु मतवारे !
कहा करौं निर्गुन लैकै हौं ! जीवहु कान्ह हमारे॥

क्या यह कहने की आवश्यकता है कि इस सारी 'झुँझलाहट' और 'झल्लाहट' (उग्रता) की तह में प्रेम की एक अखंड धारा वह रही है ?

यह झल्लाहट बराबर नहीं रहती। थोड़ी देर में शांत भाव आ जाता है और 'मति' का उदय दिखाई पड़ता है—

(क) ऊधो ! जो तुम हमहिं सुनायो।
सो हम निपट कठिनई करिकै या मन कों समझायो॥

जुगुति जतन करि हमहुँ ताहि गहि सुपथ-पंथ लौं लायो।
भटकि फिर्‌यो बोहित के खग ज्यों, पुनि फिरि हरि पै आयो॥

(ख) मधुकर! हम जो कहौ करैं।
पठयो है गोपाल कृपा कै, आयसु तें न टरैं॥
रसना बारि फेरि नव खँड कै दैं निरगुन के साथ।
इतनी तनक बिलग जनि मानहु, अखियाँ नाहीं हाथ॥

ध्यान रखना चाहिए कि यह 'मति' संचारी भाव है, बुद्धि की स्वतंत्र निर्लिप्त क्रिया नहीं है। यह कृष्ण के प्रेम का आधार लिए हुए हैं। उद्धव का उपदेश गोपियों के मन में बैठा हो, यह बात नहीं है। वे बड़ी मुश्किल से उसे मानने का जो प्रयत्न कर रही हैं, वह केवल इस ख़याल से कि कृष्ण ने कहलाया है और उनके ख़ास दोस्त कह रहे हैं। यह ख़याल आते ही फिर तो वे अपनी विवशता का अनुभव मात्र सामने रखती हैं। वे कहती हैं कि ज़बान तो कहो हम अभी 'निर्गुण' के हवाले कर दें; तुम्हारी तरह मुँह से 'नर्गुण निर्गुण' बका करें, या ज़बान ही कटा डालें—सब दिन के लिए मौन हो जायँ। पर आँखों से हम लाचार हैं; वे दर्शन की लालसा नहीं छोड़ सकतीं।

कभी कभी उनकी वृत्ति अत्यंत दीन और नम्र हो जाती है और उनके मुँह से ऐसे वचन निकलते हैं—

(क) ऊधो! हम हैं तुम्हरी दासी।
काहे को कटु बचन कहत हौ, करत आपनी हाँसी॥

(ख) अपने मन सुरति करत रहिबी।
ऊधो! इतनी बात स्याम सों समय पाय कहिबी।
घोष बसत की चूक हमारी कछू न जिय गहिबी॥

कहाँ वह 'उग्रता' और कहाँ यह अदब से भरी 'दीनता'!

ऐसी ही दशा के बीच राधा अपनी सखी से अपनी उस विह्लता या 'मोह' की बात कहती हैं जिसके कारण उद्धव के आगे कुछ कहते नहीं बनता—

सँदेसो कैसे कै अब कहौं ?
इन नैनन्ह या तन को पहरो कब लौं देति रहौं ?
जो कछु विचार होय उर अन्तर रचि पचि सोचि गहौं।
मुख आनत, ऊधो तन चितवत न सो विचार, न हौं॥

इस प्रकार वे अपनी दुःख-दशा कहते कहते थक जाती हैं। फिर वे सोचती हैं कि हमारी दशा पर कृष्ण कदाचित् उतना ध्यान न दें; इससे वे नन्द और यशोदा की व्याकुलता का वर्णन करती हैं; गायों का दुःख सुनाती हैं कि कदाचित् उन्हीं का खयाल करके वे एक बार आ जायँ—

ऊधो ! इतनी कहियो जाय।
अति कृसगात भई हैं तुम बिनु बहुत दुखारी गाय॥
जल-समूह बरसत अँखियन तें, हूँकति लीन्हें नावँ।
जहाँ जहाँ गोदोहन करते ढूँढति सोइ सोइ ठावँ॥

कृष्ण किसी प्रकार आवें, बस यहि अभिलाष सबके ऊपर है। वे किसी खयाल से आवें; आवें तो सही। बदले में कृष्ण भी वैसा ही प्रेम रखें, इतनी बड़ी बात की आशा गोपियों से अब नहीं करते बनती। अब तो वे बहुत थोड़े में संतुष्ट होने को तैयार हैं। केवल उनका दर्शन पा जायँ, बस। यह तोष-वृत्ति नैराश्य-जन्य है। नीचे के पद में जो 'क्षमा' या 'उदारता' है वह भी अभाव के दुःख की ही ओर से आती हुई जान पड़ती है—

ऊधो ! कहियो यह संदेस।
लोग कहत कुबजा-रस माते, तातें, तुम सकुचौ जनि लेस॥

जिसके न रहने से जीवन की धारा ही खंडित जान पड़ती है उसके दोषों का ध्यान कैसा ? वह आवे, चाहे दो चार और दोष भी साथ लगाता आवे। यह चीज़ की वह क़दर है जो उसके न रहने पर मालूम होती है। वियोग के अंतर्गत यह हृदय की बड़ी ही उदार दशा है। इसमें दृष्टि दोषों की ओर जाती ही नहीं। यह दशा दूसरे के दोषों को ही आँख के सामने से नहीं हटाती, बल्कि स्वयं अपने में भी दोष सुझाने लगती है। प्रेम द्वारा आत्म-शुद्धि का यह विधान कैसा अचूक है! राधा अपनी एक-एक त्रुटि का स्मरण या कल्पना करती हैं और व्याकुल होती हैं—

मेरे मन इतनी सूल रही।
वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं जे नँदलाल कहीं॥
एक दिवस मेरे गृह आए, मैं ही मथति दही।
देखि तिन्हैं हौं मान कियो, सो हरि गुसा गही॥

कभी कभी उन्हें अपने प्रेम की ही कमी पर पछतावा होता है—

कहाँ लगि मानिए अपनी चूक।
बिनु गोपाल, ऊधो! मेरी छाती ह्वै न गई द्वै टूक॥

वियोग गोपियों के हृदय को कभी कभी कैसा कोमल, उदार और सहिष्णु कर देता है, इसकी कैसी अनुताप-मिश्रित सूचना इस पद में है—

फिर ब्रज बसहु, गोकुलनाथ!
बहुरि तुमहिं न जगाय पठवौं गोधनन के साथ॥
बरजौं न माखन खात कबहूँ, देहुँ देन लुटाय।
कबहूँ न दैहौं उराहनो जसुमति के आगे जाय॥
दौरि दाम न देहुँगी, लकुटि न जसुमति पानि।
चोरी न देहुँ उघारि, किए अवगुन न कहिहौं आनि॥

करिहौं न तुमसों मान हठ, हठिहौं न माँगत दान।
कहिहौं न मृदु मुरली बजावन, करन तुमसों गान॥
कहिहौं न चरनन देन जावक, गुहन बेनी फूल।
कहिहौं न करन सिंगार बट-तर बसन जमुना कूल॥
भुज भूषनन जुत कँध धरि कै रास नाहिं कराउँ।
हौं सँकेत निकुंज बसि कै दूति मुख न बुलाउँ॥
एक बार जो देहु दरसन प्रीति-पंथ बसाय।
करौं चौंर चढ़ाय आसन नैन अँग अँग लाय॥
देहु दरसन, नँदनँदन! मिलन ही की आस।
सूर प्रभु की कुँवर-छवि को मरत लोचन प्यास॥

इन मर्म-भरी भोली-भाली प्रतिज्ञाओं में जो अनुताप, अधीनता और त्याग के उद्‌गार हैं उनका यह प्रेम-गर्वसूचक वाक्य "कहिहौं न चरनन देन जावक" स्मर्यमाण विषय होने के कारण विरोधी नहीं होता। उक्त पद में ध्यान देने की सबसे बड़ी बात यह है कि प्रेम अब किस प्रकार चपल क्रीड़ा-वृत्ति छोड़ शांत आराधना के रूप में परिणत होने को तैयार हो गया है। यह प्रेम का भक्ति में पर्य्यसवान है। सुख-क्रीड़ा-त्याग रूप विरति पक्ष दिखाकर मानो सूर ने भक्ति-मार्ग के शांत रस का स्वरूप दिखाया है।

आत्मोत्सर्ग की पराकाष्ठा वहाँ समझनी चाहिए जहाँ प्रेमी निराश होकर प्रिय के दर्शन का आग्रह भी छोड़ देता है। इस अवस्था में वह अपने लिए प्रिय से कुछ चाहना छोड़ देता है और उसका प्रेम इस अविचल कामना के रूप में आ जाता है कि प्रिय चाहे जहाँ रहे, सुख से रहे; उसका बाल भी बाँका न हो—

जहँ जहँ रहो राज करो तहँ तहँ, लेहु कोटि सिर भार।
यह असीस हम देति सूर सुनु 'न्हात खसै जनि बार'॥

विरहोन्माद की गहरी व्याकुलता के बीच में भी यह कामना बराबर बनी रहती है। गोपियों को वियोग में चंद्रमा तपते सूर्य, गाय-बछड़े बाघ और भेड़िए जान पड़ रहे हैं। वे उद्धव से कहती हैं—'तुम तो यहाँ की दशा देख ही रहे हो; कह देना कि जब तक ये सब आफ़तें यहाँ से टल न जायँ, तब तक वे वहीं रहें; ऐसी हालत में यहाँ न आवें'—

ऊधो! इतनी जाय कहौ।
सब बल्लभी कहतिं हरि सों 'ये दिन मधुपुरी रहौ॥
आज कालि तुमहू देखत हौ तपत तरनि सम चंद।
सुँदर स्याम परम कोमल तनु, क्यों सहिहैं नँदनँद॥
मधुर मोर पिक परुष प्रबल अति बन उपबन चढ़ि बोलत।
सिंह बृकन सम गाय बच्छ ब्रज बीथिन बीथिन डोलत॥
तुम तौ परम साधु कोमलचित जानत हौ सब रीति।
सूर स्याम को क्यों बोलैं ब्रज बिन टारे यह ईति'॥

विरही घोर दुःख सहता हुआ भी यह कभी मन में नहीं लाता कि यह प्रेम दूर हो जाता तो अच्छा था। कोई मंत्रशास्त्री आकर कहे—'अच्छा, हम वह प्रेम ही मंत्रबल से उड़ाए देते हैं जो सारे बखेड़े की जड़ है' तो कोई वियोगी शायद ही तैयार होगा—चाहे वह दुनिया भर से कहता फिरे कि 'प्रीति करि काहू सुख न लह्यो'। और दुःखों से वियोग-दुःख में यही विशेषता है। वियोगी रस्सी छुड़ाकर प्रेम के बाड़े के बाहर नहीं भागना चाहता। गोपियाँ प्रेम-क्षेत्र के बाहर की किसी वस्तु के प्रति कैसी उपेक्षा या लापरवाई प्रकट करती हैं—

मधुकर! कौन मनायो मानै?
सिखवहु तिनहिं समाधि की बातैं जे हैं लोग सयाने।

हम अपने ब्रज ऐसेइ बसिहैं बिरह-बाय-बौराने।

वे उद्धव को उलटा समझाती हैं कि विरह से भी प्रेम की पुष्टि होती है, वह पक्का होता है—

ऊधो! बिरहौ प्रेम करै।
ज्यों बिनु पुट पट गहै न रंगहि, पुट गहे रसहि परै।
जौ आवौं घट दहत अनल तनु तौ पुनि अमिय भरै॥

इसे प्रेम-सिद्धांत का उपदेश मात्र समझ कर न छोड़िए, भा के स्वरूप पर भी ध्यान दीजिए। यह प्रतिकूल स्थिति की अनि वार्यता से उत्पन्न 'आत्म-समाधान' की स्वाभाविक वृत्ति है। ए अफ़ीमची घोड़ी पर सवार कहीं जा रहे थे। जिधर उन्हें जान था उधर का रास्ता छोड़ घोड़ी दूसरी ओर चलने लगी। ज बहुत मोड़ने पर भी वह न मुड़ी तब उन्होंने बाग ढीली कर कहा—"अच्छा, चल! इधर भी मेरा काम है"। इसी प्रका की अंतर्वृत्ति इस वाक्य से भी झलकती है—

हम तौ दुहूँ भाँति फल पायो।
जौ ब्रजनाथ मिलैं तौ नीको, नातरु जग जस गायो।

यह तो 'आत्म-समाधान' हुआ। दूसरे की कोई बात न मान पर मन में कुछ खटक सी रहती है कि इसे दुःख पहुँचा होगा अपनी इस खटक को मिटाने के लिए दूसरे के समाधान क प्रवृत्ति होती है; जैसे—

ऊधो? मनमाने की बात।
जरत पतंग दीप में जैसे औ फिरि फिरि लपटात।
रहत चकोर पुहुमि पर, मधुकर! ससि अकास भरमात॥

इस समाधान के अतिरिक्त 'धृति' की भी व्यंजना देखिए—

अब हमरे जिय बैठ्यो यह पद 'होनी होउ सो होऊ'।
मिटि गयो मान परेखो, ऊधो! हिरदय हतो सो होऊ॥

'भ्रमरगीत' में कुब्जा का नाम भी बार बार आया है। इसके कारण 'असूया' की बड़ी वक्रतापूर्ण व्यंजनाएँ मिलती हैं। जब उद्धव कृष्ण का संदेश कह कर अपनी ज्ञान-चर्चा छेड़ते हैं तभी गोपियाँ कहती हैं कि यह कृष्ण का संदेश नहीं जान पड़ता; यह तो उसी कुबड़ी पीठवाली की कारस्तानी मालूम पड़ती है—

मधुकर! कान्ह कही नहिं होहीं।
यह तो नई सखी सिखई है निज अनुराग बरोहीं॥
सचि राखी कूबरी पीठ पै ये बातैं चकचोही।

फिर वे 'असूया' का भाव इन साफ शब्दों में प्रकट करती हैं कि इस समय कृष्ण की चहेती कुब्जा का ही जीवन सफल है—

जीवन मुँहचाही को नीको।
दरस परस दिन राति करति है कान्ह पियारे पी को॥

वे उद्धव से कहती हैं कि तुम अपनी ज्ञान-कथा वहीं रखो जहाँ इस समय खूब आनंद-मङ्गल हो रहा है; यहाँ जगह नहीं है—

या कहँ यहाँ ठौर नाहीं, लै राखो जहाँ सुचैन।
हम सब सखि गोपाल उपासिनि हमसों बातैं छाँड़ि।
सूर, मधुप! लै राखु मधुपुरी कुबजा के घर गाड़ि॥

"वहीं कुब्जा के घर गाड़ रखो' स्त्रियों के मुख के कैसे जले कटे स्वाभाविक शब्द हैं! संदेश का उत्तर थोड़े ही में वे यह देतीं हैं कि यदि यह ज्ञानयोग ऐसी उत्तम वस्तु है तो इसे उस कुबड़ी को दो; हमारे सामने वह (कृष्ण का) रूप ही कर दो; हम अपना उसी को देखा करें—

पा लागौं कहियो मोहन सों जोग कूबरी दीजै।
सूरदास प्रभु-रूप निहारैं, हमरे संमुख कीजै॥

वे कृष्ण जिन्होंने इतनी गोपियों का मन चुराया, एक साधारण कुबड़ी दासी के प्रेम-जाल में फँस गए, इस पर देखिए कैसी मीठी चुटकी और कैसा कुतूहलपूर्ण कृत्रिम संतोष प्रकाशित किया गया है—

बरु वै कुवजा भलो कियो।
सुनि सुनि समाचार, ऊधो! मो कछुक सिरात हियो॥
जाको गुन, गति, नाम, रूप हरि हार्‌यो फिरि न दियो।
तिन अपनो मन हरत न जान्यो, हँसि हँसि लोग जियो॥

क्षुब्ध हृदय की कैसी भाव-प्रेरित वचन-रचना है! इसी प्रकार की वाग्विदग्धता और वक्रता (बाँकपन) उद्धव के 'निराकार' शब्द पर आगे गोपियों की विलक्षण उक्ति में दिखाई पड़ती है। वे राधा को संबोधन करके कहती हैं—

मोहन माँग्यो अपनो रूप।
या ब्रज बसत अँचै तुम बैठी, ता बिनु तहाँ निरूप॥

'कृष्ण का रूप तो तुम पी गई हो', वह तुम्हारे हृदय में रह गया है (तुम निरंतर उनके रूप का ध्यान करती रहती हो) इससे वे वहाँ 'निरूप'—बिना आकार के—हो रहे हैं। उद्धव के द्वारा उन्होंने अपना वही रूप माँग भेजा है कि निराकारता मिटे। तुम जो रात दिन उनके रूप का ध्यान करती रहती हो उसे भी उद्धव छुड़ाने आए हैं, यह बात कितने टेढ़े ढंग से, किस वक्रता के साथ, प्रकट की गई है! वाणी ने यह वक्रता हृदय की प्रेरणा से, उठते हुए भावों की लपेट में, ग्रहण की है। इसकी तह में भाव-स्रोत छिपा हुआ है।

ऐसे ही बाँकपन के साथ वे कृष्ण के रूप का ध्यान हृदय से न निकलने का कारण बताती हैं—

उर में माखनचोर गड़े।

अब कैसहु निकसत नहिं, ऊधो! तिरछे ह्वै जो अड़े॥

जो लंबी चीज़ किसी बरतन में जाकर तिरछी हो जायगी वह बड़ी मुश्किल से निकलेगी। कृष्ण की मूर्ति का राधा जब ध्यान करने लगती हैं तब उनकी त्रिभंगी मूर्ति ही ध्यान में आती है, इसी से वह मन में अँटक-सी गई है, निकलती नहीं है।

वचन की जो वक्रता भाव-प्रेरित होती है, वही काव्य होती है। "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" से यही वक्रता अभिप्रेत है, वक्रोक्ति अलंकार नहीं। भावोद्रेक से उक्ति में जो एक प्रकार का बाँकपन आ जाता है, तात्पर्य-कथन के सीधे मार्ग को छोड़कर वचन जो एक भिन्न प्रणाली ग्रहण करते हैं, उसी की रमणीयता काव्य की रमणीयता के भीतर आ सकती है। भाव-प्रसूत वचन-रचना में ही भाव या भावना तीव्र करने की क्षमता पाई जाती है। कोई मनुष्य किसी को बड़ा बहादुर कह रहा है। दूसरे से सुनकर रहा नहीं जाता; वह कहता है—"हाँ! तभी न बिल्ली देखकर गिर पड़े थे"। कहनेवाला सीधी तरह से कह सकता था—"वह बहादुर नहीं, भारी डरपोक है; बिल्ली देखकर डर जाता है"। पर इस सीधे वाक्य से उसका संतोष नहीं हो सकता था। भीरु को वीर सुनकर जो उपहास की उमंग उसके हृदय में उठी उसने श्रोताओं को भी उपहासोन्मुख करने के लिए बिल्ली से डरने को बहादुरी के सबूत में पेश करा दिया। काव्य की उक्ति का लक्ष्य किसी वस्तु या विषय का बोध कराना नहीं, बल्कि उस वस्तु या विषय के संबंध में कोई भाव या रागात्मक स्थिति उत्पन्न करना होता है। तार्किक जिस

प्रकार श्रोता को अपनी विचार-पद्धति पर लाना चाहता है उसी प्रकार कवि अपनी भाव-पद्धति पर।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'विदग्धता' वहीं तक काव्योपयोगी हो सकती है जहाँ तक वह भाव-प्रेरित हो—जहाँ तक उसका कारण कोई भाव या कम से कम कोई रागात्मक दशा हो। 'विदग्धा नायिका' की वचन-विदग्धता या क्रिया-विदग्धता में काव्य की रमणीयता इसीलिए होती है कि उसकी तह में रति भाव वर्त्तमान रहता है। किसी पुराने चोर या चाई की विदग्धता का ब्योरेवार वर्णन काव्य के अंतर्गत नहीं आ सकता; क्योंकि उसमें रसात्मकता नहीं। सूर ने कई स्थलों पर बालक कृष्ण की वचन-विदग्धता दिखाई है; जैसे—

> मैं अपने मंदिर के कोने माखन राख्यो जानि।
> सोई जाय तुम्हारे ढोटा लीनो है पहिचानि॥
> बूझी ग्वालिन घर में आयो, नेकु न संका मानी।
> सूर स्याम यह उतर बनायो 'चींटी काढ़त पानी'॥

इस विदग्धता में जो रमणीयता है वह इसी कारण कि इसमें बाल-प्रकृति का चित्रण होता है और यह भय प्रेरित है।

अब सूर ने अपने सिद्धांत पक्ष का जो काव्यात्मक निरूपण किया है थोड़ा उसे भी दिखाकर इस प्रबंध को समाप्त करते हैं। उद्धव के ज्ञानयोग का पूरा लेक्चर सुनकर और उसे अपने सीधे सादे प्रेम मार्ग की अपेक्षा कहीं दुर्गम और दुर्बोध देखकर गोपियाँ कहती हैं—

> काहे को रोकत मारग सूधो ?
> सुनहु मधुप ! निर्गुन-कंटक तें राजपंथ क्यों रूँधो ?

ताको कहा परेखो कीजै जानत छाँछ न दूधो।
सूर मूर अक्रूर गए लै ब्याज निबेरत ऊधो॥

हम अपने प्रेम या भक्ति के सीधे और चौड़े राजमार्ग पर जा रही हैं। उस मार्ग में तुम ये निर्गुण-रूपी काँटे क्यों बिछाते हो? हमारा रास्ता क्यों रोकते हो? जैसे तुम्हारे लिए रास्ता है वैसे ही हमारे लिए भी है। तुम अपने रास्ते चलो, हम अपने रास्ते। एक दूसरे का रास्ता रोकने क्यों जाय? भक्ति और ज्ञान के संबंध में सूर का यही मत समझिए। वे ज्ञान के विरोधी नहीं, भक्ति-विरोधी ज्ञान के विरोधी हैं। गोपियों से वे उद्धव की बातों के अंतिम उत्तर के रूप में कहलाते हैं—

बार बार ये बचन निवारो।
भक्ति-विरोधी ज्ञान तिहारो॥

मनुष्यत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति रागात्मिका वृत्ति और बोध-वृत्ति दोनों के मेल में है। अतः इनमें किसी का निषेध उचित नहीं। कोई एक की ओर मुख्यतः प्रवृत्त रहता है, कोई दूसरे की ओर। कुछ ऐसे पूर्ण-प्रज्ञ भी होते हैं जिनमें हृदय-पक्ष और बुद्धि-पक्ष दोनों की पूर्णता रहती है। वल्लभाचार्यजी ऐसे ही थे।

सूरदासजी वल्लभाजार्यजी के शिष्यों में से थे। वल्लभाचार्यजी ज्ञान-मार्ग की ओर तो वेदांत की एक शाखा के प्रवर्त्तक थे और भक्ति-मार्ग की ओर एक अत्यंत प्रेमोपासक संप्रदाय के। वल्लभाचार्यजी का अद्वैतवाद 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है। रामानुजाचार्यजी ने अद्वैत को दो पक्षों (चित् और अचित्) से युक्त या विशिष्ट दिखाया था। वल्लभ ने यह विशिष्टता हटाकर ब्रह्म को फिर शुद्ध किया। उन्होंने निरूपित किया कि सत्, चित् और आनंद स्वरूप ब्रह्म अपने इच्छानुसार इन तीनों स्वरूपों का आविर्भाव (विकास)

स्त्रियों के कैसे स्वाभाविक हाव-भाव-भरे ये वचन हैं—"... है, हम ठीक ठीक पूछती हैं, हँसी नहीं, कि तुम्हारा निर्गुण ... का रहनेवाला है"। कुछ विनोद, कुछ चपलता, कुछ भोलाप... कुछ घनिष्ठता—कितनी बातें इस छोटे से वाक्य से टपकती हैं!

ज्ञान-मार्गी वेदांतियों और दार्शनिकों के सिद्धांतों की लो... में अव्यवहार्यता तथा उनके बेडौल और भड़कीले शब्दों के अ... की अस्पष्टता और दुर्बोधता आदि की ओर गोपियों की यह भुं... लाहट कैसा संकेत कर रही है—

> याकी सीख सुनै ब्रज को, रे !
>
> जाकी रहनि कहनि अनमिल अति, कहत समुझि अति थोरे ॥

'इसकी बात कौन सुने जो कहता कुछ है और करता कुछ ... तथा जो ऐसी बातें मुँह से निकालता है जिनको खुद बहुत ही क... समझता है'। पिछले कथन से सबके नहीं तो अधिकांश ब्रह्म-ज्ञा... छाँटनेवालों के स्वरूप का चित्रण हो जाता है। वे बहुत से ऐ... बँधे हुए वाक्यों और शब्दों की झड़ी बाँधा करते हैं जिनके अ... की स्पष्ट धारणा उन्हें कुछ भी नहीं रहती। बिना समझी बु... बातें बककर वे लोगों के बीच बड़े समझदार बना करते हैं।

निर्गुण की नीरसता और सगुण की सरसता किस प्रका... अपने हृदय के सच्चे अनुभव के रूप में गोपियाँ उद्धव के साम... क्या, जगत् के सामने रखती हैं—

> ऊनो कर्म कियो मातुल बधि मदिरा मत्त प्रमाद ।
>
> सूरश्याम एते अवगुन में निर्गुन तें अति स्वाद ॥

ज्ञान-मार्ग का गोपियों ने तिरस्कार तो किया, पर यह सो... कर कि कहीं उद्धव का जी न दुखा हो, वे उनका समाधान ...

करती हैं। वे समझती हैं कि ज्ञान-मार्ग को हम बुरा नहीं कहती हैं, वह अत्यन्त श्रेष्ठ मार्ग है; पर अपनी रुचि को हम क्या करें? यह हमारे अनुकूल नहीं पड़ता। रुचि-भिन्नता दो समान वस्तुओं में भी भेद करके एक की ओर आकर्षित करती है और दूसरी से दूर रखती है—

ऊधो! तुम अति चतुर सुजान।
द्वै लोचन जो विरद किए श्रुति गावत एक समान।
भेद चकोर कियो तिनहू में विधु प्रीतम, रिपु भान॥

उद्धव अपनी सी कहते जा रहे हैं कि बीच में कोयल बोल उठती है। गोपियाँ चट उद्धव का ध्यान उधर ले जाती हैं—

ऊधो! कोकिल कूजत कानन।
तुम हमको उपदेस रत कहौ भस्म लगावत आनन।

वह सुनो! कोयल कूक रही है। तुम तो हमें राख मलने को कह रहे हो; उधर प्रकृति क्या कह रही है, वह भी सुनो।

'भ्रमरगीत' की भूमिका के रूप में ही यहाँ सूर के संबंध में कुछ विचार संक्षेप में प्रकट किए गए हैं। आशा है विस्तृत आलोचना का अवसर भी कभी मिलेगा।

गुरुधाम, काशी
श्रीपंचमी सं० १९८२

रामचन्द्र शुक्ल

भ्रमरगीत-सार

श्रीकृष्ण का वचन उद्धव-प्रति

राग सारंग

पहिले करि परनाम नंद सों समाचार सब दीजो।
और वहाँ बृषभानु गोप सों जाय सकल सुधि लीजो ॥
श्रीदामा आदिक सब ग्वालन मेरे हुतो[1] भेंटियो।
सुख-संदेस सुनाय हमारो गोपिन को दुख मेटियो ॥
मंत्री इक बन बसत हमारो ताहि मिले सचु[2] पाइयो।
सावधान ह्वै मेरे हूतो ताही माथ नवाइयो ॥
सुन्दर परम किसोर वयक्रम चंचल नयन बिसाल।
कर मुरली सिर मोरपंख पीताम्बर उर बनमाल ॥
जनि डरियो तुम सघन बनन में ब्रजदेवी रखवार।
वृन्दावन सो बसत निरंतर कबहुँ न होत नियार[3] ॥
उद्धव प्रति सब कही स्यामजू अपने मन की प्रीति।
सूरदास किरपा करि पठए यहै सकल ब्रज रीति ॥ १

राग सोरठ

कहियो नन्द कठोर भए।
हम दोउ बीरैं[4] डारि पर-घरै मानो थाती सौंपि गए ॥
तनक तनक तैं पालि बड़े किए बहुतै सुख दिखराए।

---

(१) हुतो = ओर से, तरफ से। (२) सचु = सुख। (३) नियार = न्यारे, अलग। (४) बीर = भाई।

गोचारन को चलत हमारे पाछे कोसक धाए॥
ये बसुदेव देवकी हमसों कहत आपने जाए।
बहुरि विधाता जसुमतिजू के हमहिं न गोद खिलाए॥
कौन काज यह राज, नगर को सब सुख सों सुख पाए?
सूरदास ब्रज समाधाने[1] कर आजु कालिह हम आए॥ २॥

राग बिलावल

तबहिं उपँगसुत[2] आय गए।
सखा सखा कछु अंतर नाहीं भरि भरि अंक लए॥
अति सुंदर तन स्याम सरीखो देखत हरि पछिताने।
ऐसे को वैसी बुधि होती ब्रज पठवैं तब आने॥
या आगे रस-काव्य प्रकासे जोग-बचन प्रगटावै।
सूर ज्ञान दृढ़ याके हिरदय युवतिन जोग सिखावै॥ ३॥

हरि गोकुल की प्रीति चलाई।
सुनहु उपँगसुत मोहिं न बिसरत ब्रजबासी सुखदाई॥
यह चित होत जाउँ मैं अबही, यहाँ नहीं मन लागत।
गोप सुग्वाल गाय बन चारत अति दुख पायो त्यागत॥
कहँ माखन चोरी? कहँ जसुमति 'पूत जेंव' करि प्रेम।
सूर स्याम के बचन सहित[3] सुनि व्यापत आपन नेम॥ ४॥

राग रामकली

जदुपति लख्यो तेहि मुसकात।
कहत हम मन रही जोई सोइ भई यह बात॥
बचन परगट करन लागे प्रेम-कथा चलाय।

---

(१) समाधान = प्रबोध, तसल्ली। (२) उपँगसुत = उद्धव।
(३) सहित = हित या प्रेम युक्त।

सुनहु उद्धव मोहिं ब्रज की सुधि नहीं बिसराय ॥
रैनि सोवत, चलत, जागत लगत नहिं मन आन।
नंद, जसुमति नारि नर ब्रज जहाँ मेरो प्रान ॥
कहत हरि, सुनि[1] उपँगसुत ! यह कहत हौं रसरीति।
सूर चित तें टरति नाहीं राधिका की प्रीति ॥ ५ ॥

राग सारंग

सखा ! सुनो मेरी इक बात।
वह लतागन संग गोपिन सुधि करत पछितात ॥
कहाँ वह वृषभानुतनया परम सुंदर गात।
सुरति आए रासरस की अधिक जिय अकुलात ॥
सदा हित यह रहत नाहीं सकल मिथ्या जात।
सूर प्रभु यह सुनौ मोसों एक ही सों नात ॥ ६ ॥

राग टोड़ी

उद्धव ! यह मन निस्चय जानो।
मन क्रम वच मैं तुम्हैं पठावत ब्रज को तुरत पलानो[2] ॥
पूरन ब्रह्म, सकल, अविनासी ताके तुम हौ ज्ञाता।
रेख, न रूप, जाति, कुल नाहीं जाके नहिं पितु माता ॥
यह मत दै गोपिन कहँ आवहु विरह-नदी में भासति[3]।
सूर तुरत यह जाय कहौ तुम ब्रह्म विना नहिं आसति[4] ॥ ७ ॥

राग नट

उद्धव ! वेगि ही ब्रज जाहु।
सुरति सँदेस सुनाय मेटो बल्लभिन[5] को दाहु ॥

(१) सुनि = सुन। (२) पलानो = जाओ, प्रस्थान करो। (३) भासति = डूबती हैं। (४) आसति = आसत्ति, सामीप्य, मुक्ति। (५) बल्लभी = प्यारी।

काम पावक तूलमय तन बिरह-स्वास समीर।
भसम नाहिंन होन पावत लोचनन के नीर॥
अजौं लौं यहि भाँति ह्वैहै कछुक सजग सरीर।
इते पर बिनु समाधाने क्यों धरैं तिय धीर॥
कहौं कहा बनाय तुमसों सखा साधु प्रवीन?
सूर सुमति बिचारिए क्यों जियैं जल बिनु मीन॥८॥

राग सारंग

पथिक! सँदेसो कहियो जाय।
आवैंगे हम दोनों भैया, मैया जनि अकुलाय॥
याको बिलगु[1] बहुत हम मान्यो जो कहि पठयो धाय[2]।
कहँ लौं कीर्ति मानिए तुम्हरी बड़ो कियो पय प्याय॥
कहियो जाय नंदबाबा सों, अरु गहि पकर्‍यो पाय।
दोऊ दुखी होन नहिं पावहिं धूमरि धौरी[3] गाय॥
यद्यपि मथुरा बिभव बहुत है तुम बिनु कछु न सुहाय।
सूरदास ब्रजबासी लोगनि भेंटत हृदय जुड़ाय॥९॥

नीके रहियो जसुमति मैया।
आवैंगे दिन चारि पाँच में हम हलधर दोउ भैया॥
जा दिन तें हम तुमतें बिछुरे काहु न कह्यो 'कन्हैया'।
कबहूँ प्रात न कियो कलेवा, साँझ न पीन्हीं[4] धैया[5]॥
बंसी बेनु सँभारि राखियो और अबेर सबेरो।
मति लै जाय चुराय राधिका कछुक खिलौनो मेरो॥

---

(१) बिलग मानना=बुरा मानना। (२) धाय=दाई। यशोदा ने कृष्ण के मथुरा जाने पर देवकी के पास कहला भेजा था कि—"हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो" (३) धौरी=सफेद। (४) पीन्ही=पी। (५) धैया=थन से सीधी छूटती दूध की धारा।

कहियो जाय नंदबाबा सों निपट निठुर जिय कीन्हो ।
सूर स्याम पहुँचाय मधुपुरी[1] बहुरि सँदेस न लीन्हो ॥१०॥

राग कल्याण

उद्धव मन अभिलाष बढ़ायो ।
जदुपति जोग जानि जिय साँचो नयन अकास चढ़ायो ॥
नारिन पै मोको पठवत हौ कहत सिखावन जोग ।
मनहीं मन अब करत प्रसंसा है मिथ्या सुख-भोग ॥
आयसु मानि लियो सिर ऊपर प्रभु-आज्ञा परमान ।
सूरदास प्रभु पठवत गोकुल मैं क्यों कहौं कि आन ॥११॥

उद्धव प्रति कुब्जा के वाक्य

राग सारंग

सुनियो एक सँदेसो ऊधो तुम गोकुल को जात ।
ता पाछे तुम कहियो उनसों एक हमारी बात ॥
मात-पिता को हेत जानि कै कान्ह मधुपुरी आए ।
नाहिंन स्याम तिहारे प्रीतम, ना जसुदा के जाए ॥
समुझौ बूझौ अपने मन में तुम जो कहा भलो कीन्हो ।
कह बालक, तुम मत्त ग्वालिनी सबै आप-बस कीन्हो ॥
और जसोदा माखन-काज़ै बहुतक त्रास दिखाई ।
तुमहिं सबै मिलि दाँवरि दीन्ही रंच[2] दया नहिं आई ॥
अरु वृषभानसुता जो कीन्ही सो तुम सब जिय जानो ।
याही लाज तजी ब्रज मोहन अब काहे दुख मानो ?
सूरदास यह सुनि सुनि बातैं स्याम रहे सिर नाई ।
इत कुब्जा उत प्रेम ग्वालिनी कहत न कछु बनि आई ॥१२॥

---

(१) मधुपुरी = मथुरा । (२) रंच = तनिक, ज़रा भी ।

उद्धव का ब्रज में आना

राग मलार

कोऊ आवत है तन स्याम।
वैसेइ पट, वैसिय रथ-बैठनि, वैसिय है उर दाम ॥
जैसी हुतिं उठि तैसिय दौरीं छाँडि सकल गृह-काम।
रोम पुलक, गदगद भइं तिहि छन सोचि अंग अभिराम ॥
इतनी कहत आय गए ऊधो, रहीं ठगी तिहि ठाम।
सूरदास प्रभु ह्याँ क्यों आवैं बंधे कुब्जा-रस स्याम ॥१३

उद्धव का ब्रज में दिखाई पड़ना

राग मलार

है कोई वैसीई अनुहारि।
मधुवन तें इत आवत, सखि री! चितौ तु नयन निहारि ॥
माथे मुकुट, मनोहर कुंडल, पीत बसन रुचिकारि।
रथ पर बैठि कहत सारथि सों ब्रज-तन बाँह पसारि ॥
जानति नाहिंन पहिचानति हौं मनु बीते जुग चारि।
सूरदास स्वामी के बिछुरे जैसे मीन बिनु वारि ॥१४

राग सोरठ

देखो नंदद्वार रथ ठाढ़ो।
बहुरि सखी सुफलकसुत[2] आयो पर्‍यो सँदेह उर गाढ़ो ॥
प्रान हमारे तबहिं गयो लै अब केहि कारन आयो।
जानति हौं अनुमान सखी री! कृपा करन उठि धायो ॥

---

(१) तन = ओर, तरफ। (२) सुफलकसुत = अक्रूर।

इतने अंतर आय उपंगसुत तेहि छन दरसन दीन्हो।
तब पहिंचानि सखा हरिजू को परम सुचित तन कीन्हो॥
तब परनाम कियो अति रुचि सों और सबहि कर जोरे।
सुनियत रहे तैसेई देखे परम चतुर मति-भोरे[1]।
तुम्हरो दरसन पाय आपनो जन्म सफल करि जान्यो।
सूर ऊधो सों मिलत भयो सुख ज्यों झख पायो पान्यो[2] ॥१५॥

कहौ कहाँ तें आए हौ।
जानति हौं अनुमान मनो तुम जादवनाथ पठाए हौ॥
वैसोइ बरन, बसन पुनि वैसेइ, तन भूषन सजि ल्याए हौ।
सरबसु लै तब संग सिधारे अब कापर पहिराए हौ॥
सुनहु, मधुप! एकै मन सबको सो तो वहाँ लै छाए हौ।
मधुबन की मानिनी मनोहर तहँहिं जाहु जहँ भाए हौ॥
अब यह कौन सयानप? ब्रज पर का कारन उठि धाए हौ।
सूर जहाँ लौं स्यामगात हैं जानि भले करि पाए हौ॥१६॥

राग नट

ऊधो को उपदेस सुनौ किन कान दै?
सुंदर स्याम सुजान पठायो मान दै॥ ध्रुव॥
कोउ आयो उत तायँ जितै नँदसुवन सिधारे।
वहै बेनु-धुनि होय मनो आए नँदप्यारे॥
धाईं सब गलगाजि कै[3] ऊधो देखे जाय।
लै आईं ब्रजराज पै हो, आनँद उर न समाय॥
अरघ आरती, तिलक, दूब दधि माथे दीन्ही।

(१) भोरे = भोले। (२) पान्यो = पानी। झख पायो पान्यो = मछली ने पानी पाया। (३) गलगाजि कै = आनंदित होकर।

कंचन-कलस भराय आनि परिकरमा कीन्हीं ॥
गोप-भीर आँगन भई मिलि बैठे यादवजात[1] ।
जलझारी आगे धरी, हो, बूझति हरि-कुसलात ॥
कुसल-छेम बसुदेव, कुसल देवी कुवजाऊ ।
कुसल-छेम अक्रूर, कुसल नीके बलदाऊ ॥
पूछि कुसल गोपाल की रहीं सकल गहि पाय ।
प्रेम-मगन ऊधो भए, हो. देखत व्रज को भाय[2] ॥
मन मन ऊधो कहै यह न बूझिय गोपालहि[3] ।
व्रज को हेतु बिसारि जोग सिखवत व्रजबालहि ॥
पाती बाँचि न आवई रहे नयन जल पूरि ।
देखि प्रेम गोपीन को, हो. ज्ञान-गरब गयो दूरि ॥
तब इत उत बहराय नीर नयनन में सोख्यो ।
ठानी कथा प्रबोध बोलि सब गुरू समोख्यो[4] ॥
जो व्रत मुनिवर ध्यावही पर पावहिं नहिं पार ।
सो व्रत सीखो गोपिका, हो, छाँड़ि विषय-विस्तार ॥
सुनि ऊधो के वचन रहीं नीचे करि तारे[5] ।
मनो सुधा सों सींचि आनि विषज्वाला जारे ॥
हम अवला कह जानहीं जोग-जुगुति की रीति ।
नँदनंदन व्रत छाँड़ि कै, हो, को लिखि पूजै भीति[6] ?
अविगत. अगह, अपार. आदि अवगत है सोई ।
आदि निरंजन नाम ताहि रंजै सब कोई ॥

---

(१) यादवजात = यादव से उत्पन्न अर्थात् उद्धव । (२) भाय = भाव । (३) यह न...गोपालहि = गोपाल की यह बात समझ में नहीं आती । (४) समोख्यो = सहेज कर कहा । (५) तारे = पुतली, आँख । (६) भीति = दीवार ।

नैन नासिका-अग्र है तहाँ ब्रह्म को बास ।
अबिनासी बिनसै नहीं, हो, सहज ज्योति-परकास ॥
घर लागै[1] औधूरि कहे मन कहा बँधावै ।
अपनो घर परिहरे कहो को घरहि बतावै ?
मूरख जादवजात हैं हमहिं सिखावत जोग ।
हमको भूली कहत हैं, हो, हम भूली किधौं लोग ?
गोपिहु तें भयो अंध ताहि दुहुं लोचन ऐसे !
ज्ञाननैन जो अंध ताहि सूझै धौं कैसे ?
बूझै निगम बोलाइ कै, कहै बेद समुझाय ।
आदि अंत जाके नहीं, हो, कौन पिता को माय ?
चरन नहीं भुज नहीं, कहौ, ऊखल किन बाँधो ?
नैन नासिका मुख नहीं चोरि दधि कौन खाँधो[2] ?
कौन खिलायो गोद में, किन कहे तोतरे बैन ?
ऊधो ताको न्याव है, हो, जाहि न सूझै नैन ॥
हम बूझति सतभाव न्याव तुम्हरे मुख साँचो ।
प्रेम-नेम रसकथा कहौ कंचन की काँचो[3] ॥
जो कोउ पावै सीस दै[4] ताको कीजै नेम ।
मधुप हमारी सौं[5] कहो, हो, जोग भलो किधौं प्रेम ॥
प्रेम प्रेम सों होय प्रेम सों पारहि जैए ।
प्रेम बँध्यो संसार, प्रेम परमारथ पैए ॥

---

(१) घर लागै = ठिकाने लगता है। औधूरि = घूमकर। घर...... बँधावै = मन घूमकर फिर अपने ही ठिकाने आता है उसे कह सु कर क्या कोई बाँध सकता है ? (२) खाँधो = (सं० खादन) खाय (३) काँचो = काँच। (४) सीस दै = सिर देकर, प्राण खोकर (५) हमारी सौं = हमारी सौगंध।

एकै निहचै प्रेम को जीवन-मुक्ति रसाल।
साँचो निहचै प्रेम को, हो, जो मिलिहैं नँदलाल।
सुनि गोपिन को प्रेम नेम[1] ऊधो को भूल्यो।
गावत गुन-गोपाल फिरत कुंजन में फूल्यो॥
छन गोपिन के पग धरै, धन्य तिहारो नेम।
धाय धाय द्रुम भेंटहीं, हो, ऊधो छाके प्रेम॥
धनि गोपी, धनि गोप, धन्य सुरभी वनचारी।
धन्य, धन्य! सो भूमि जहाँ बिहरे बनवारी॥
उपदेसन आयो हुतो मोहिं भयो उपदेस।
ऊधो जदुपति पै गए, हो, किए गोप को वेस॥
भूल्यो जदुपति नाम, कहत गोपाल गोसाँई।
एक वार ब्रज जाहु देहु गोपिन दिखराई॥
गोकुल को सुख छाँड़ि कै कहाँ बसे हौ आय।
कृपावंत हरि जानि कै, हो, ऊधो पकरे पाय॥
देखत ब्रज को प्रेम नेम कछु नाहिंन भावै।
उमड़्यो नयननि नीर बात कछु कहत न आवै॥
सूर स्याम भूतल गिरे, रहे नयन जल छाय।
पोंछि पीतपट सों कह्यो, 'आए जोग सिखाय'?।

राग धनाश्री

हमसों कहत कौन की बातें?

सुनि ऊधो! हम समुझत नाहीं फिरि पूँछति हैं तातें॥
को नृप भयो कंस किन मारयो को वसुद्यौ-सुत आहि?
यहाँ हमारे परम मनोहर जीजतु हैं मुख चाहि[2]॥

(१) नेम = नियम, योग (२) चाहि = देखकर।

दिनप्रति जात सहज गोचारन गोप सखा लै संग।
बासरगत रजनीमुख[1] आवत करत नयन-गति पंग[2] ॥
को व्यापक पूरन अबिनासी, को बिधि-वेद-अपार?
सूर बृथा बकवाद करत हौ या ब्रज नंदकुमार ॥१८

राग सारंग

तू अलि! कासों कहत बनाय?
बिन समुझे हम फिरि बूझति हैं एक बार कहौ गाय ॥
किन वै गवन कीन्हों सकटनि चढ़ि सुफलकसुत के संग।
किन वै रजक लुटाइ बिबिध पट पहिरे अपने अंग?
किन हति चाप निदरि गज मार्‍यो किन वै मल्ल मथि जाने[3]?
उग्रसेन बसुदेव देवकी किन वै निगड़ हठि भाने[4]?
तू काकी है करत प्रसंसा, कौने घोष[5] पठायो?
किन मातुल बधि लयो जगत जस कौन मधुपुरी छायो?
माथे मोरमुकुट बनगुंजा, मुख मुरली-धुनि बाजै।
सूरजदास जसोदानंदन गोकुल कह न बिराजै ॥१९॥

राग सारंग

हम तो नंदघोष की बासी।
नाम गोपाल, जाति कुल गोपहि, गोप गोपाल-उपासी ॥
गिरिवरधारी, गोधनचारी, बृन्दावन-अभिलासी।
राजा नंद, जसोदा रानी, जलधि नदी जमुना सी ॥
प्रान हमारे परम मनोहर कमलनयन सुखरासी।
सूरदास प्रभु कहौं कहाँ लौं अष्ट महासिधि दासी ॥२०॥

---

(१) रजनीमुख = संध्या। (२) पंग = स्तब्ध। (३) मथि जाने = पछाड़ा। (४) निगड़ भाने = बेड़ी तोड़ी। (५) घोष = अहीरों की बस्ती।

राग केदार

गोकुल सबै गोपाल-उपासी ।
जोग-अंग साधत जे ऊधो ते सब बसत ईसपुर कासी ॥
यद्यपि हरि हम तजि अनाथ करि तदपि रहति चरननि रसरासी[1]
अपनी सीतलताहि न छाँड़त यद्यपि है ससि राहु-गरासी ।
का अपराध जोग लिखि पठवत प्रेमभजन तजि करत उदासी[2]
सूरदास ऐसी को बिरहिन माँगति मुक्ति तजे गुनरासी ? ॥२१॥

राग धनाश्री

जीवन मुँहचाही[3] को नीको ।
दरस परस दिनरात करति हैं कान्ह पियारे पी को ॥
नयनन मूँदि मूँदि किन देखौ बँध्यो ज्ञान पोथी को ।
आछे सुंदर स्याम मनोहर और जगत सब फीको ॥
सुनौ जोग को का लै कीजै जहाँ ज्यान[4] है जी को ?
खाटी मही नहीं रुचि मानै सूर खवैया घी को ॥२२॥

राग काफी

आयो घोष बड़ो व्योपारी ।
लादि खेप[5] गुन ज्ञान-जोग की ब्रज में आय उतारी ॥
फाटक[6] दै कर हाटक माँगत भोरै निपट सु धारी[7] ।
धुर[8] ही तें खोटो खायो है लये फिरत सिर भारी ॥
इनके कहे कौन डहकावै[9] ऐसी कौन अजानी ?

---

(१) रासी = रसी या पगी हुई । (२) उदासी = विरक्त । (३) मुँहचाही = चहेती, प्रिया । (४) ज्यान = ज़ियान, हानि । (५) खेप = माल का बोझ (६) फाटक = अनाज फटकने से निकाला हुआ कदन्न, फटकन । (७) धारी = समझकर । (८) धुर = मूल, आरंभ । (९) डहकावै = सौदे में धोखा खाय, ठगाए ।

अपनो दूध छांड़ि को पीवै खार कूप को पानी ॥
ऊधो जाहु सबार[1] यहाँ तें बेगि गहरु[2] जनि लावौ।
मुँहमाँग्यो पैहो सूरज प्रभु साहुहि आनि दिखावौ ॥२३॥

जोग ठगौरी[3] ब्रज न बिकैहै।
यह ब्योपार तिहारो ऊधो ऐसोई फिरि जैहै ॥
जापै लै आए हौ मधुकर ताके उर न समैहै।
दाख छांड़ि कै कटुक निंबौरी[4] को अपने मुख खैहै ?
मूरी के पातन के केना[5] को मुक्ताहल देहै।
सूरदास प्रभु गुनहिं छांड़ि कै को निर्गुन निरबैहै ?

राग नट

प्राए जोग सिखावन पाँड़े।
परमारथी पुराननि लादे ज्यों बनजारे टाँड़े[6] ॥
हमरी गति पति कमलनयन की जोग सिखैं ते राँड़े ॥
कहौ, मधुप, कैसे समायँगे एक म्यान दो खाँड़े ॥
कहु षटपद, कैसे खैयतु है हाथिन के संग गाँड़े[7]।
काकी भूख गई बयारि भखि बिना दूध घृत माँड़े ॥
काहे को झाला[8] लै मिलवत, कौन चोर तुम डांड़े[9] ?
सूरदास तीनों नहिं उपजत धनिया धान कुम्हाँड़े[10] ॥

(१) सबार=सवेरे। (२) गहरु=विलंब, देर। (३) ठगौरी=ठगपने का सौदा। (४) निंबौरी=नीम का फल। (५) केना=सौदा। छोटा मोटा साग मूली आदि का बदला। (६) टाँडा=व्यापार का माल। (७) गाँडा= गन्ने या चारे का कटा हुआ टुकड़ा। हाथी के साथ गाँड़े खाना=(कहावत) देखादेखी अनहोनी बात करना। (८) झाला=झक, बकवाद। (९) डाँड़े=दंड दिया। (१०) धनिया··· कुम्हाँड़े= धनिया, धान और कुम्हड़ा।

राग बिलावल

ए अलि ! कहा जोग में नीको ?
तजि रसरीति नंदनंदन की सिखवत निर्गुन फीको ॥
देखत सुनत नाहिं कछु स्रवननि, ज्योति ज्योति करि ध्यावत।
सुंदरस्याम दयालु कृपानिधि कैसे हौ बिसरावत ?
सुनि रसाल मुरली-सुर की धुनि सोई कौतुक-रस भूलैं।
अपनी भुजा ग्रीव पर मेलैं[1] गोपिन के सुख फूलैं ॥
लोककानि कुल को भ्रम प्रभु मिलि मिलि कै घर बन खेली[2]।
अब तुम सूर खवावन आए जोग जहर की बेली ॥२

राग मलार

हमरे कौन जोग ब्रत साधै ?
मृगत्वच, भस्म, अधारि[3], जटा को को इतनो अवराधै ?
जाकि कहूं थाह नहिं पैए अगम, अपार, अगाधै।
गिरिधर लाल छबीले मुख पर इते बाँध[4] को बाँधै ?
आसन, पवन विभूति मृगछाला ध्याननि को अवराधै ?
सूरदास मानिक परिहरि कै राख गाँठि को बाँधै ? ॥२

राग धनाश्री

हम तो दुहूं भाँति फल पायो।
जो ब्रजनाथ मिलैं तो नीको, नातरु जग जस गायो ॥
कहँ वै गोकुल की गोपी सब बरनहीन लघुजाती।
कहँ वै कमला के स्वामी सँग मिलि बैठीं इक पाँती ॥

---

(१) मेलैं = डालते (थे)। (२) खेली = खेल डाला, कुछ न समझा।
(३) अधारी = साधुओं की टेकने की लकड़ी। (४) बाँध = आडंबर

निगमध्यान मुनिज्ञान अगोचर, ते भए घोषनिवासी।
ता ऊपर अब साँच कहो धौं मुक्ति कौन की दासी ?
जोग-कथा, पा लागों[1] ऊधो, ना कहु बारंबार।
सूर स्याम तजि और भजै जो तानो जननी छार[2] ॥२८॥

राग कान्हरो

पूरनता इन नयन न पूरी।
तुम जो कहत स्रवननि सुनि समुझत, ये याही दुख मरति बिसूरी[3]।
हरि अंतर्यामी सब जानत बुद्धि बिचारत बचन समूरी[4]।
वै रस रूप रतन सागर निधि क्यों मनि पाय खवावत धूरी[5]।
रहु रे कुटिल, चपल, मधुलंपट, कितव[6] सँदेस कहत कटु कूरी[7]।
कहँ मुनिध्यान कहाँ ब्रजयुवती ! कैसे जात कुलिस करि चूरी।
देखु प्रगट सरिता, सागर, सर सीतल सुभग स्वाद रुचि रूरी[8]।
सूर स्वातिजल बसै जिय चातक चित लागत सब झूरी[9] ॥२९॥

राग धनाश्री
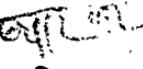
हमतें हरि कबहूँ न उदास।
राति-खवाय पिवाय अधररस सो क्यों बिसरत ब्रज को वास ॥
तुमसों प्रेमकथा को कहिबो मनहुँ काटिबो घास।
बहिरो तान-स्वाद कह जानै, गूँगो बात-मिठास ॥
सुनु री सखी, बहुरि फिरि ऐहैं वे सुख विविध विलास।
सूरदास ऊधो अब हमको भयो तेरहों मास[10] ॥३०॥

(१) पा लागों = पैर पड़ती हूँ। (२) छार = भस्म, राख, मिट्टी।
(३) बिसूरी = बिलखकर। (४) समूरी = जड़ मूल से। (५) धूरी = धूल।
(६) कितव = धूर्त्त, छली। (७) कूरी = क्रूर, निष्ठुर। (८) रूरी = अच्छी।
(९) झूरी = नीरस। (१०) तेरहों मास भयो = अवधि बीत गई, बहुत दिन हो गए।

1957 तेरौ बुरो न कोऊ मानै।
रस की बात मधुप नीरस, सुनु, रसिक होत सो जानै॥
दादुर बसै निकट कमलन के जन्म न रस पहिंचानै।
अलि अनुराग उड़न मन बाँध्यो कहे सुनत नहिं कानै॥
सरिता चलै मिलन सागर को कूल मूल द्रुम भानै[1]।
कायर बकै, लोह[2] तें भाजै, लरै जो सूर बखानै॥३१॥

घर ही के बाढ़े[3] रावरे।
नाहिंन मीत बियोगबस परे अनवउगे[4] अलि बावरे!
भुख मरि जाय चरै नहिं तिनुका सिंह को यहै स्वभाव रे।
स्रवन सुधा-मुरली के पोषे जोग-जहर न खवाव, रे!
ऊधो हमहिं सीख का दैहो? हरि बिनु अनत न ठाँव रे!
सूरजदास कहा लै कीजै थाही नदिया नाव, रे!॥३२॥

राग मलार

स्यामसुख देखे ही परतीति।
जो तुम कोटि जतन करि सिखवत जोग ध्यान की रीति॥
नाहिंन कछू सयान ज्ञान में यह हम कैसे मानैं।
कहौ कहा कहिए या नभ को कैसे उर में आनैं॥
यह मन एक, एक वह मूरति, भृंगकीट[5] सम माने।
सूर सपथ दै बूझत ऊधो यह ब्रज लोग सयाने॥३३॥

---

(१) भानै = तोड़ती है। (२) लोह = लोहा, हथियार। (३) घर ही के बाढ़े = अपने ही घर बढ़बढ़ कर बात करनेवाले। (४) अनवउगे = अँगवोगे, सहोगे। (५) भृंगकीट = बिलनी नाम का कीड़ा जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि वह और कीड़े को पकड़कर उसे अपने रूप का कर देता है।

राग धनाश्री

लरिकाई को प्रेम, कहौ अलि, कैसे करिकै छूटत ?
कहा कहौं ब्रजनाथ-चरित अब अँतरगति[1] यों लूटत ॥
चंचल चाल मनोहर चितवनि, वह मुसुकानि मंद धुनि गावत ।
नटवर भेस नंदनंदन को वह विनोद गृह बन तें आवत ॥
चरनकमल की सपथ करति हौं यह सँदेस मोहिं बिष सम लागत ।
सूरदास मोहि निमिष न बिसरत मोहन मूरति सोवत जागत ॥३४॥

राग सोरठ

अटपटि बात तिहारी ऊधो सुनै सो ऐसी को है ?
हम अहीरि अबला सठ, मधुकर ! तिन्हैं जोग कैसे सोहै ?
बूचिहि[2] खुभी[3] आँधरी काजर, नकटी पहिरै बेसरि[4] ।
मुँडली पाटी पारन चाहै, कोढ़ी अंगहि केसरि ॥
बहिरी सों पति मतो[5] करै सो उतर कौन पै पावै ?
ऐसो न्याव है ताको ऊधो जो हमैं जोग सिखावै ॥
जो तुम हमको लाए कृपा करि सिर चढ़ाय हम लीन्हे ।
सूरदास नरियर जो बिष को करहिं बंदना कीन्हे ॥३५॥

राग बिहागरो

बरु वै कुब्जा भलो कियो ।
सुनि सुनि समाचार ऊधो मो कछुक सिरात हियो ॥
जाको गुन, गति, नाम, रूप हरि, हार्‌यो फिरि न दियो ।

---

(१) अंतरगति = चित्त की वृत्ति, मन । (२) बूची = कनकटी, जिसका कान कटा हो । (३) खुभी = कान में पहनने का एक गहना, लौंग । (४) बेसरि = नाक में पहनने का एक गहना । (५) मतो करै = सलाह करे ।

तिन अपनो मन हरत न जान्यो हँसि हँसि लोग जियो ॥
सूर तनक चदन चढ़ाय तन ब्रजपति वस्य कियो।
और सकल नागरि नारिन को दासी दाँव लियो ॥३६॥

राग सारंग

हरि काहे के अंतर्यामी ?
जौ हरि मिलत नहीं यहि औसर, अवधि बतावत लामी[1] ॥
अपनी चोप[2] जाय उठि बैठे और निरस बेकामी[3] ?
सो कह पीर पराई जानै जो हरि गरुड़ागामी ॥
आई उघरि प्रीति कलई सी जैसे खाटी आमी।
सूर इते पर अनख[4] मरति हैं, ऊधो, पीवत मामी[5] ॥३७॥

बिलग जनि मानहु, ऊधो प्यारे !
वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे॥
तुम कारे, सुफलकसुत कारे, कारे मधुप भँवारे।
तिनके संग अधिक छबि उपजत कमलनैन मनिआरे[6] ॥
मानहु नील माट[7] तें काढ़े लै जमुना ज्यों पखारे।
ता गुन स्याम भई कालिंदी सूर स्याम-गुन न्यारे ॥३८॥

राग सारंग

अपने स्वारथ को सब कोऊ।
चुप करि रहौ, मधुप रस-लंपट ! तुम देखे अरु वोऊ ॥
औरौ कछू सँदेस कहन को कहि पठयो किन सोऊ।

---

(१) लामी = लंबी। (२) चोप = चाह, चाव। (३) बेकामी = निष्काम। (४) अनख = कुढ़न। (५) मामी पीना = किसी बात को पी जाना, साफ इनकार करना। (६) मनिआर = सुहावन, रौनक। (७) माट = मटका, मिट्टी का बरतन।

लीन्हे फिरत जोग जुबतिन को बड़े सयाने दोऊ ॥
तब कत मोहन रास खिलाई जो पै ज्ञान हुतोऊ ?
अब हमरे जिय बैठो यह पद 'होनी होउ सो होऊ' ॥
मिटि गयो मान परेखो[1] ऊधो हिरदय हतो सो होऊ ।
सूरदास प्रभु गोकुलनायक चित-चिंता अब खोऊ ॥३६

तुम जो कहत सँदेसो आनि ।
कहा करौं वा नँदनंदन सों होत नहीं हितहानि ॥
जोग-जुगुति किहि काज हमारे जदपि महा सुखखानि ?
सने सनेह स्यामसुन्दर के हिलि मिलि कै मन मानि ॥
सोहत लोह परसि पारस ज्यों सुबरन बारह बानि[2] ।
पुनि वह चोप कहाँ चुम्बक ज्यों लटपटाय लपटानि ॥
रूपरहित नीरासा निरगुन निगमहु परत न जानि ।
सूरजदास कौन बिधि तासों अब कीजै पहिचानि ? ॥४०॥

राग धनाश्री

हम तौ कान्ह-केलि की भूखी ।
कैसे निरगुन सुनहिं तिहारो बिरहिनि बिरह-बिदूखी[3] ?
कहिए कहा यहौ नहिं जानत काहि जोग है जोग ।
पा लागों तुमहीं सों, वा पुर बसत बावरे लोग ॥
अंजन, अभरन, चीर, चारु बरु नेकु आप तन कीजै ।
दंड, कमंडल, भस्म, अधारी जौ जुवतिन को दीजै ॥
सूर देखि दृढ़ता गोपिन की ऊधो यह ब्रत पायो ।
कहै 'कृपानिधि हो कृपाल हो ! प्रेमै पढ़न पठायो' ॥४१॥

(१) मान परेखो = आसरा भरोसा । (२) बारह बानि = द्वादश वर्ण अर्थात् सूर्य की तरह चमकनेवाला, खरा । (३) बिदूखी = दुखी ।

अँखियाँ हरि-दरसन की भूखी।
कैसे रहैं रूपरसराची ये बतियाँ सुनि रूखी॥
अवधि गनत इकटक मग जोवत तब एती नहिं झूखी[1]।
अब इन जोग-सँदेसन ऊधो अति अकुलानी दूखी॥
बारक[2] वह मुख फेरि दिखाओ दुहि पय पिवत पतूखी[3]।
सूर सिकत हठि नाव चलाओ ये सरिता हैं सूखी[4] ॥४२॥

राग सारंग

जाय कहौ बूझी कुसलात।
जाके ज्ञान न होय सो मानै कही तिहारी बात॥
कारो नाम, रूप पुनि कारो, कारे अंग सखा सब गात।
जौ पै भले होत कहुँ कारे तौ कत बदलि सुता लै जात[5]॥
हमको जोग, भोग कुबजा को काके हिये समात?
सूरदास सेए सो पति कै पाले जिन्ह तेही पछितात ॥४३॥

कहाँ लौं कीजै बहुत बड़ाई।
अतिहि अगाध अपार अगोचर मनसा तहाँ न जाई॥
जल बिनु तरँग, भीति बिनु चित्रन, बिन चित ही चतुराई।
अब ब्रज में अनरीति कछू यह ऊधो आनि चलाई॥
रूप न रेख, वदन, वपु जाके संग न सखा सहाई।
ता निर्गुन सों प्रीति निरंतर क्यों निबहै, री माई?
मन चुभि रही माधुरी मूरति रोम रोम अरुझाई।
हौं बलि गई सूर प्रभु ताके जाके स्याम सदा सुखदाई ॥४४॥

---

(१) झूखी=सन्तप्त हुई। (२) बारक=एक बार। (३) पतूखी=पत्ते का दोना। ४ सूर...सूखी=व्यर्थ बालू में नाव चलाते हो, ये सूखी नदियाँ हैं। (५) तौ कत......लै जात=तो क्यों लड़के (कृष्ण) को बदलकर लड़की ले जाते?

राग मलार

काहे को गोपीनाथ कहावत ?

जो पै मधुकर कहत हमारे गोकुल काहे न आवत ?
सपने की पहिंचानि जानि कै हमहिं कलंक लगावत।
जो पै स्याम कूबरी रीझे सो किन नाम धरावत ?
ज्यों गजराज काज के औसर औरै दसन दिखावत[1]।
कहन सुनन को हम हैं ऊधो सूर अंत[2] बिरमावत ॥४५॥

अब कत सुरति होति है, राजन् ?
दिन दस प्रीति करी स्वारथ-हित रहत आपने काजन ॥
सबै अयानि भईं सुनि मुरली ठगीं कपट की छाजन।
अब मन भयो सिंधु के खग ज्यों फिरि फिरि सरत जहाजन ॥
यह नातो टूटो ता दिन तें सुफलकसुत-सँग भाजन।
गोपीनाथ कहाय सूर प्रभु कत मारत हौ लाजन ॥४६॥

राग सोरठ

लिखि आई ब्रजनाथ की छाप[3]।
बाँधे फिरत सीस पर ऊधो देखत आवै ताप ॥
नूतन रीति नंदनंदन की घरघर दीजत थाप।
हरि आगे कुब्जा अधिकारी, तातें है यह दाप ॥
आए कहन जोग अवराधो अविगत-कथा की जाप।
सूर सँदेसो सुनि नहिं लागै कहौ कौन को पाप ? ॥४७॥

---

(१) ज्यों गजराज......दिखावत =(कहावत) हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और। (२) अन्त = अनत, अन्यत्र। (३) छाप = चिह्न, मुहर।

राग सारंग

फिरि फिरि कहा सिखावत बात ?
प्रातकाल उठि देखत, ऊधो, घर घर माखन खात ॥
जाकी बात कहत हौ हमसों सो है हमसों दूरि।
ह्याँ है निकट जसोदानँदन प्रान-सजीवनमूरि ॥
बालक संग लये दधि चोरत खात खवावत डोलत।
सूर सीस सुनि चौंकत नावहिं अब काहे न मुख बोलत ? ॥४८॥

राग धनाश्री

अपने सगुन गोपालै, माई ! यहि बिधि काहे देत ?
ऊधो की ये निरगुन बातैं मीठी कैसे लेत।
धर्म, अधर्म कामना सुनावत सुख औ मुक्ति समेत ॥
काकी भूख गई मनलाडू सो देखहु चित चेत।
सूर स्याम तजि को भुस फटकै(१) मधुप तिहारे हेत ? ॥४९॥

राग सारंग

हमको हरि की कथा सुनाव।
अपनी ज्ञानकथा हो, ऊधो ! मथुरा ही लै आव ॥
नागरि नारि भले बूझैंगी अपने वचन सुभाव।
पा लागों, इन बातनि, रे अलि ! उनहीं जाय रिझाव ॥
सुनि, प्रियसखा स्यामसुन्दर के जो पै जिय सति भाव।
हरिमुख अति आरत इन नयननि बारक बहुरि दिखाव ॥
जो कोउ कोटि जतन करै, मधुकर, बिरहिनि और सुहाव ?
सूरजदास मीन को जल बिनु नाहिंन और उपाव ॥५०॥

---

(१) भुस फटकै=भूसी फटकारै अर्थात् भूसी में से कुछ सार निकालने का प्रयत्न करे।

राग कान्हरो

अलि हो ! कैसे कहौं हरि के रूप-रसहि ?
मेरे तन में भेद बहुत बिधि रसना न जानै नयन की दसहि ॥
जिन देखे ते आहिं बचन बिनु, जिन्हैं बचन दरसन न तिसहि ।
बिन बानी भरि उमगि प्रेमजल सुमिरि वा सगुन-जसहि ॥
बार बार पछितात यहै मन कहा करै जो बिधि न बसहि[1] ।
सूरदास अँगन की यह गति को समुझावै पाछपद पसुहि[2] ? * ॥५१॥

राग सारंग

हमारे हरि हारिल[3] की लकरी ।
मन बच क्रम नँदनँदन सों उर यह दृढ़ करि पकरी ॥
जागत सोवत, सपने सौंतुख कान्ह कान्ह जक[4] री ।
सुनतहि जोग लगत ऐसो अलि ! ज्यों करुई ककरी ॥
सोई व्याधि हमैं लै आए देखी सुनी न करी ।
यह तौ सूर तिन्हैं लै दीजै जिनके मन चकरी[5] ॥५२॥

फिरि फिरि कहा सिखावत मौन ?
दुसह बचन अलि यों लागत उर ज्यों जारे पर लौन ॥
सिंगी, भस्म, त्वचामृग, मुद्रा, अरु अवरोधन पौन ।
हम अबला अहीर, सठ मधुकर ! घर बन जानै कौन ॥

---

(१) न बसहि = वश में नहीं है । (२) पाछपद पसुहि = पश्चात्पद पशु को । (३) हारिल = एक पत्ती जो प्रायः चँगुल में कोई लकड़ी या तिनका लिए रहता है । (४) जक = रट, धुन । (५) चकरी = चकई । चकई नामक खिलौने की तरह चँचल या घूमता हुआ ।

* इसका पाठ 'या छपद पसुहि' जान पड़ता है । अर्थ होगा 'इस पशु (मूर्ख) छपद (षट्पद, भ्रमर) को कौन समझाए' ।

यह मत लै तिनहीं उपदेसौ जिन्हैं आजु सब सोहत।
सूर आज लौं सुनी न देखी पोत[1] सूतरी पोहत ॥५३॥

राग जैतश्री

प्रेमरहित यह जोग कौन काज गायो ?
दीनन सों निठुर वचन कहे कहा पायो ?
नयनन निज कमलनयन सुन्दर मुख हेरो।
मूँदन ते नयन कहत कौन ज्ञान तेरो ?
तामें कहु मधुकर ! हम कहा लैन जाहीं।
जामें प्रिय प्राननाथ नँदनन्दन नाहीं ?
जिनके तुम सखा साधु बातें कहु तिनकी।
जीवैं सुनि स्यामकथा दासी हम जिनकी ॥
निरगुन अविनासी गुन आनि आनि भाखौ।
सूरदास जिय के जिय कहाँ कान्ह राखौ ?॥५४॥

राग केदारो

जनि चालौ, अलि, बात पराई।
ना कोउ कहै सुनै या ब्रज में नइ कीरति सब जाति हिराई॥
बूझैं समाचार मुख ऊधो कुल की सब आरति बिसराई।
भले संग बसि भई भली मति, भले मेल पहिचान कराई॥
सुन्दर कथा कटुक सी लागति उपजत उर उपदेस खराई[2]।
उलटो न्याव सूर के प्रभु को बहे जात माँगत उतराई ॥५५॥

राग मलार

याकी सीख सुनै ब्रज को, रे ?
जाकी रहनि कहनि अनमिल, अलि, कहत समुझि अति थोरे॥

(१) पोत = माला की गुरिया। (२) खराई = खारापन।

आपुन पद - मकरंद - सुधारस हृदय रहत नित बोरे।
हमसों कहत बिरस समझौ, है गगन कूप खनि खोरे[1]।
धान को गाँव पयार तें जानौ ज्ञान बिषयरस भोरे।
सूर सो बहुत कहे न रहै रस गूलर को फल फोरे[2] ॥५६।

निरखत अंक स्यामसुन्दर के बारबार लावति छाती।
लोचन-जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गइ स्याम स्याम की पाती[3]।
गोकुल बसत संग गिरिधर के कबहुं बयारि लगी नहिं ताती
तब की कथा कहा कहौं, ऊधो, जब हम बेनुनाद सुनि जाती
हरि के लाड़[4] गनति नहिं काहू निसिदिन सुदिन रासरसमाती
प्राननाथ तुम कब धौं मिलौगे सूरदास प्रभु बालसँघाती ॥५७

राग मारू

मोहिं अलि दुहूं भाँति फल होत।
तब रस-अधर लेति मुरली, अब भई कूबरी सौत ॥
तुम जो जोगमत सिखवन आए भस्म चढ़ावन अँग।
इन बिरहिन में कहुँ कोउ देखी सुमन गुहाये मंग[5] ?
कानन मुद्रा पहिरि मेखली धरे जटा आधारी।
यहाँ तरल तरिवन कहँ देखे अरु तनसुख[6] की सारी ॥
परम बियोगिनि रटति रैन दिन धरि मनमोहन-ध्यान।
तुम तो चलो वेगि मधुवन को जहाँ जोग को ज्ञान ॥
निसिदिन जीजतु है या व्रज में देखि मनोहर रूप।
सूर जोग लै घर घर डोलौ, लेहु लेहु धरि सूप ॥५

---

(१) खोरे=नहाए। (२) गूलर को फल फोरे=गूलर का फल फोड़ने से अर्थात् ढकी छिपी बात खोलने से। (३) पाती=पत्री, चिट्ठी। (४) लाड़=प्रेम। (५) मंग=माँग। (६) तनसुख=एक कपड़ा।

राग सारंग

बिलग जनि मानौ हमरी बात।
डरपति वचन कठोर कहति, मति बिनु पति यों उठि जात[1]।
जो कोउ कहत जरे अपने[2] कछु फिरि पाछे पछितात।
जो प्रसाद पावत तुम ऊधो कृस्न नाम लै खात॥
मन जु तिहारो हरिचरनन तर अचल रहत दिनरात।
'सूर स्याम तें जोग अधिक' केहि कहि आवत यह बात ?॥५६॥

अपनी सी[3] कठिन करत मन निसिदिन।
कहि कहि कथा, मधुप, समुझावति तदपि न रहत नंदनंदन बिन॥
वरजत श्रवन सँदेस, नयन जल, मुख बतियाँ कछु और चलावत।
बहुत भाँति चित्त धरत निठुरता सब तजि और यहै जिय आवत॥
कोटि स्वर्ग सम सुख अनुमानत हरि-समीप-समता नहिं पावत।
थकित सिंधु-नौका के खग ज्यों फिरि फिरि फेरि वहै गुन गावत॥
जे वासना न बिदरत अंतर[4] तेइ तेइ अधिक अनूअर[5] दाहत।
सूरदास परिहरि न सकत तन बारक बहुरि मिल्यो है चाहत॥६०॥

राग धनाश्री

रहु रे, मधुकर! मधुमतवारे।
कहा करौं निर्गुन लै कै हौं जीवहु कान्ह हमारे॥
लोटत नीच परागपंक में पचत, न आपु सम्हारे।
बारम्बार सरक[6] मदिरा की अपरस[7] कहा उघारे॥

---

(१) पति उठि जात = मर्यादा जाती रहती है। (२) जरे अपने = अपना जी जलने पर। (३) अपनी सी = अपने भरसक। (४) जे बासना... अन्तर = जिस वासना के कारण हृदय नहीं फटता है। (५) अनूअर = अनुत्तर, लगातार। (६) सरक = मद्यपात्र। (७) अपरस = विरस, रसहीन।

तुम जानत हमहूँ वैसी हैं जैसे कुसुम तिहारे।
घरी पहर सबको बिलमावत जेते आवत कारे॥
सुन्दरस्याम कमलदल-लोचन जसुमति-नँद-दुलारे।
सूर स्याम को सर्बस अर्प्यो अब कापै हम लेहिं उधारे[1] ॥६१॥

राग बिलावल

काहे को रोकत मारग सूधो ?
सुनहु, मधुप ! निर्गुन-कंटक तें राजपंथ क्यों रूँधो[2] ?
कै तुम सिखै पठाए कुब्जा, कै कही स्यामघन जू धौं।
बेद पुरान सुमृति सब ढूँढ़ौ जुवतिन जोग कहूँ धौं ?
ताको कहा परेखो[3] कीजै जानत छाछ न दूधो।
सूर मूर अक्रूर गए लै ब्याज निबेरत[4] ऊधो ॥६२॥

राग मलार

बातन सब कोऊ समुझावै।
जेहि बिधि मिलन मिलैं वै माधव सो बिधि कोउ न बतावै॥
जद्यपि जतन अनेक रचीं पचि और अनत बिरमावै।
तद्यपि हठी हमारे नयना और न देखे भावै॥
बासर-निसा प्रानबल्लभ तजि रसना और न गावै।
सूरदास प्रभु प्रेमहिं लगि करि कहिए जो कहि आवै ॥६३॥

राग सारंग

निर्गुन कौन देस को बासी ?
मधुकर ! हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी॥

---

(१) उधारे=उधार में, उधार, कर्ज। (२) रूँधो=रोकते हो, छेंकते हो। (३) परेखो=विश्वास। (४) निबेरत=निबटाते हैं, वसूल करते हैं।

को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी ?
कैसो वरन भेस है कैसो केहि रस में अभिलासी।
पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे! कहैगो गाँसी[1]
सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो सो सूर सबै मति नासी।

राग केदारो

नाहिंन रह्यो मन में ठौर।
नंदनंदन अछत, कैसे आनिए उर और ?
चलत, चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत राति।
हृदय तें वह स्याम मूरति छन न इत उत जाति॥
कहत कथा अनेक ऊधो लोक-लाभ दिखाय।
कहा करौं तन प्रेम-पूरन घट न सिंधु समाय!
स्याम गात सरोज-आनन ललित अति मृदु हास।
सूर ऐसे रूप-कारन मरत लोचन प्यास॥६५॥

राग मलार

ब्रजजन सकल स्याम-ब्रतधारी।
बिन गोपाल और नहिं जानत आन कहें व्यभिचारी॥
जोग-मोट सिर बोझ आनि कै कत तुम घोष उतारी ?
इतनी दूरि जाहु चलि कासी जहाँ बिकति है प्यारी[2]॥
यह सँदेस नहिं सुन तिहारो, है मण्डली अनन्य हमारी।
जो रसरीति करी हरि हमसों सो कत जात बिसारी ?
महामुक्ति कोऊ नहिं बूझै, जदपि पदारथ चारी।
सूरदास स्वामी मनमोहन मूरति की बलिहारी॥६६॥

---

(१) गाँसी = गाँस या कपट की बात, चुभनेवाली बात।
(२) प्यारी = महँगी (पंजाबी)

राग धनाश्री

कहति कहा ऊधो सों बौरी[1]।
जाको सुनत रहे हरि के ढिग स्यामसखा यह सो री!
कहा कहत री! मैं पत्यात[2] री नहीं सुनी कहनावत।
हमको जोग सिखावन आयो, यह तेरे मन आवत?
करनी भली भलेई जानै, कपट कुटिल की खानि।
हरि को सखा नहीं री माई! यह मन निसचय जानि॥
कहाँ रास-रस कहाँ जोग-जप? इतनो अँतर भाखत।
सूर सबै तुम कत भईं बौरी याकी पति[3] जो राखत॥६७॥

राग रामकली

ऐसेई जन दूत कहावत।
मोको एक अचंभो आवत यामें ये कह पावत?
बचन कठोर कहत, कहि दाहत, अपनी महत[4] गँवावत।
ऐसी परकृति[5] परति छाँह की जुवतिन ज्ञान बुझावत॥
आपुन निलज रहत नखसिख लौं एते पर पुनि गावत।
सूर करत परसँसा अपनी, हारेहु जीति कहावत॥६८॥

राग धनाश्री

प्रकृति जोई जाके अंग परी।
स्वान-पूँछ कोटिक जो लागै सूधि न काहु करी॥
जैसे काग भच्छ नहिं छाँड़ै जनमत जौन घरी।

(१) बौरी=पगली। (२) पत्यात=विश्वास करती हूँ। (३) पति राखत=प्रतीति या विश्वास रखती है। (४) महत=महत्ता, महिमा। (५) परिकृति=प्रतिकृति वा प्रकृति अर्थात् संसर्ग या छाया का ऐसा प्रभाव पड़ता है।

धोये रंग जात कहु कैसे ज्यों कारी कमरी ?
ज्यों अहि डसत उदर नहिं पूरत ऐसी धरनि धरी[1]।
सूर होउ सो होउ सोच नहिं, तैसे हैं एउ री ॥

राग रामकली

तौ हम मानैं बात तुम्हारी।
अपनो ब्रह्म दिखावहु ऊधो मुकुट-पितांबरधारी।
भजिहैं तब ताको सब गोपी सहि रहिहैं बरु गारी।
भूत समान बतावत हमको जारहु स्याम बिसारी ॥
जे मुख सदा सुधा अँचवत हैं ते विष क्यों अधिकारी ?
सूरदास प्रभु एक अंग पर रीझि रहीं ब्रजनारी ॥

राग बिलावल

यहै सुनत ही नयन पराने।
जबहीं सुनत बात तुव मुख की रोवत रमत ढराने[2] ॥
बारँबार स्यामघन घन तें भाजत फिरत लुकाने।
हमकों नहिं पतियात तबहिं तें जब ब्रज आपु समाने ॥
नातरु यहौ काछ हम काछति[3] वै यह जानि छपाने।
सूर दोष हमरे सिर धरिहौ तुम ही बड़े सयाने ॥

राग धनाश्री

नयननि वहै रूप जो देख्यो।
तौ ऊधो यह जीवन जग को साँचु सफल करि लेख्यो ॥
लोचन चारु चपल खंजन, मनरँजन हृदय हमारे।

---

(१) धरनि धरी=टेक पकड़ी। (२) ढराने=ढले। (३) काछ काछति = वेष धारण करती, चाल चलती।

रुचिर कमल मृग मीन मनोहर स्वेत अरुन अरु कारे ॥
रतन-जटित कुंडल श्रवननि वर, गंड कपोलनि झाँई।
मनु दिनकर-प्रतिबिंब मुकुट महँ ढूँढ़त यह छबि पाई ॥
मुरली अधर विकट भौंहैं करि ठाढ़े होत त्रिभंग।
मुकुट माल उर नीलसिखर तें धँसि धरनी ज्यों गंग ॥
और भेस को कहै बरनि सब अँग अँग केसरि खौर।
देखत बनै, कहत रसना सो सूर बिलोकत और[1] ॥७२॥

राग नट

नयनन नंदनंदन ध्यान।
तहाँ लै उपदेस दीजै जहाँ निरगुन ज्ञान ॥
पानिपल्लव-रेख गनि गुन-अवधि विधि-बंधान।
इते पर कहि कटुक बचनन हनत जैसे प्रान ॥
चंद्र कोटि प्रकास मुख, अवतंस कोटिक भान।
कोटि मन्मथ वारि छबि पर, निरखि दीजित दान ॥
भृकुटि कोटि कुदंड[2] रुचि अवलोकनी[3] सँधान[4]।
कोटि बारिज बंक नयन कटाच्छ कोटिक बान ॥
कंबु ग्रीवा रतनहार उदार उर मनि जान।
आजानुबाहु उदार अति कर पद्म सुधानिधान ॥
स्याम तन पटपीत की छवि करै कौन बखान ?
मनहु निर्तत नील घन में तड़ित अति दुतिमान ॥
रासरसिक गोपाल मिलि मधु अधर करती पान।
सूर ऐसे रूप विनु कोउ कहा रच्छक आन ? ॥७३॥

(१) कहत······बिलोकत और = उसको जीभ कहती है जो देखती नहीं, देखता और कोई (नेत्र) है। (२) कुदंड = कोदंड, धनुष। (३) अवलोकनी = चितवन। (४) संधान = धनुष खींचना।

त्रिकुटी[1] सँग भ्रूभंग, तराटक[2] नैन नैन लगि लागे
हँसन प्रकास, सुमुख कुंडल मिलि चंद्र सूर अनुरागे
मुरली अधर श्रवन धुनि सो सुनि अनहद शब्द प्रमाने
बरसत रस रुचि-बचन-सँग, सुख-पद-आनन्द-समाने
मंत्र दियो मनजात[3] भजन लगि, ज्ञान ध्यान हरि ही को
सूर, कहौ गुरु कौन करै, अलि, कौन सुनै मत फीको ? ॥७८॥

राग सारंग

कहिबे जीय न कछु सक राखो।
लावा मेलि दए[4] हैं तुमको बकत रहौ दिन आखों[5] ॥
जाकी बात कहौ तुम हमसों सो धौं कहौ को काँधी[6]।
तेरो कहो सो पवन भूस भयो, बहो जात ज्यों आँधी ॥
कत श्रम करत, सुनत को ह्याँ है, होत जो वन को रोयो।
सूर इते पै समुझत नाहीं, निपट दई को खोयो[7] ॥७९॥

राग धनाश्री

अब नीके कै समुझि परी।
जिन लगि हुती बहुत उर आसा सोऊ बात निबरी[8] ॥
वै सुफलकसुत, ये, सखि ! ऊधो मिली एक परिपाटी।
उन तो वह कीन्ही तब हमसों, ये रतन छँड़ाइ गहावत माटी ॥

(१) त्रिकुटी=दोनों भौंहों के बीच का स्थान, त्रिकूटचक्र। (२) तराटक=त्राटक। योग के छ कर्मों में से एक। अनिमेष रूप से किसी बिंदु पर दृष्टि गड़ाने का अभ्यास। (३) मनजात=कामदेव। (४) लावा मेल देना=जादू या टोटका करके पागल बना देना। (५) आखों=सारा (सं॰ अक्षय)। (६) काँधी=अंगीकार की, मानी। (७) दई को खोयो=गया बीता (स्त्रियों की गाली)। (८) निबरी=छूटी, खतम हुई, जाती रही।

ऊपर मृदु भीतर तें कुलिस सम, देखत के अति भोरे ।
जोइ जोई आवत वा मथुरा तें एक डार के से तोरे ॥
यह, सखि, मैं पहले कहि राखी असित न अपने होंहीं ।
सूर कोटि जौ माथो दीजै चलत आपनी गौं हीं ॥ ८० ॥

राग मलार

मधुकर रह्यो जोग लौं नातो ।
कतहिं बकत बेकाम काज बिनु, होय न ह्याँ तें हातो[1] ॥
जब मिलि मिलि मधुपान कियो हो तब तू कहि धौं कहाँ तो ।
तू आयो निर्गुन उपदेसन सो नहिं हमैं सुहातो ॥
काँचे गुन[2] लै तनु ज्यों बेधौ; लै बारिज को ताँतो ।
मेरे जान गह्यो चाहत हौ फेरि कै मैगल[3] मातो ॥
यह लै देहु सूर के प्रभु को आयो जोग जहाँ तो ।
जब चहिहैं तब माँगि पठै हैं जो कोउ आवत-जातो ॥८१॥

राग नट

मोहन माँग्यो अपनो रूप ।
या ब्रज बसत अँचै तुम बैठी, ता बिनु तहाँ निरूप[4] ॥
मेरो मन, मेरो, अलि ! लोचन लै जो गए धुपधूप[5] ।

(१) हातो = दूर, अलग। (२) गुन = तागा। (३) मैगल = मस्त हाथी। (४) मोहन······निरूप = सखी राधिका से कहती है कि तुम मोहन का रूप अँचै (पी) गई हो अर्थात् अपने ध्यान में ले बैठी हो जिससे वे बेचारे वहाँ निराकार हो गए हैं। इससे उद्धव को वही रूप माँगने के लिए उन्होंने भेजा है। उद्धव के बार बार निराकार की चर्चा करने पर यह उक्ति है (५) धुपधूप = दगदगा, धुला हुआ, साफ, चोखा।

हमसों बदलो लेन उठि धाए, मनो धारि कर सूप ॥
अपनो काज सँवारि सूर, सुनु, हमहिं बतावत कूप।
लेवा-देइ बराबर में है, कौन रंक को भूप ॥८२॥

हरि सों भलो सो पति सीता को।
बन बन खोजत फिरे बंधु-सँग, कियो सिंधु बीता को[1] ॥
रावन मार्‌यो, लंका जारी, मुख देख्यो भीता[2] को।
दूत हाथ उन्हें लिखि न पठायो निगम-ज्ञान गीता को ॥
अब धौं कहा परेखो कीजै कुबजा के मीता को।
जैसे चढ़त सबै सुधि भूली, ज्यो पीता चीता को[3]?
कीन्हीं कृपा जोग लिखि पठयो, निरखु पत्र री! ताको।
सूरजदास प्रेम कह जानै लोभी नवनीता को ॥८३॥

राग सोरठ

निरमोहिया सों प्रीति कीन्हीं काहे न दुख होय?
कपट करि करि प्रीति कपटी लै गयो मन गोय[4] ॥
काल-मुख तें काढ़ि आनी बहुरि दीन्हीं ढोय।
मेरे जिय की सोइ जानै जाहि बीती होय ॥
सोच, आँखि मँजीठ कीन्हीं निपट काँची पोय[5]।
सूर गोपी मधुप आगे दरकि[6] दीन्हों रोय ॥८४॥

---

(१) बीता को=बीते भर का। (२) भीता=डरी हुई। (३) पीता चीता को=किस पीनेवाले ने चेता अर्थात् किसी ने नहीं। (४) गोय लै गयो=चुरा ले गया। (५) सोच, आँखि मजीठ ··काँची पोय=आँखें भी मजीठ की तरह लाल (धूएँ आदि से) की, कच्चा पकाया भी। काँची पोय=कच्ची रोटी बनाकर अर्थात् प्रेम का कच्चा व्यवहार करके। (६) दरकि=फूट फूटकर।

राग सारंग

बिन गोपाल बैरिन भइँ कुंजैं ।
तब ये लता-लगति अति सीतल, अब भइँ विषम ज्वाल की पुंजैं ॥
बृथा वहति जमुना, खग बोलत, बृथा कमल फूलैं, अलि गुंजैं ।
पवन पानि घनसार सँजीवनि दधिसुत[1] किरन भानु भइँ भुंजैं[2] ॥
ए, ऊधो, कहियो माधव सों बिरह कदन[3] करि मारत लुंजैं ।
सूरदास प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भइँ बरन[4] ज्यों गुंजैं[5] ॥८५॥

राग नट

सँदेसो कैसे कै अब कहौं ?
इन नैनन्ह या तन को पहरो कब लौं देति रहौं ?
जो कछु बिचार होय उर-अंतर रचि पचि सोचि गहौं ।
मुख आनत, ऊधो-तन[6] चितवत न सो विचार, न हौं[7] ॥
अब सोई सिख देहु, सयानी ! जाते सखहिं लहौं ।
सूरदास प्रभु के सेवक सों विनती कै निबहौं ॥८६॥

राग कान्हरो

बहुरो ब्रज वह बात न चाली ।
वह जो एक बार ऊधो-कर कमलनयन पाती दै घाली ॥
पथिक ! तिहारे पा लागति हौं मथुरा जाव जहाँ वनमाली ।
करियो प्रगट पुकार द्वार ह्वै 'कालिंदी फिरि आयो काली[8]' ॥

---

(१) दधिसुत = उदधिसुत, चंद्रमा । (२) भुंजैं = भूनती हैं । (३) कदन = छुरी । (४) बरन = वर्ण रंग । (५) गुजैं = गुंजा, घुँघची । (६) तन = ओर, तरफ । (७) न सो...न हौं = न वह विचार रह जाता है और न मैं अर्थात् सब सुधबुध भूल जाती है । (८) काली = काली नाग ।

जबै कृपा जदुनाथ कि हमपै रही, सुरुचि जो प्रीति प्रतिपाली।
माँगत कुसुम देखि द्रुम ऊँचे, गोद पकरि लेते गहि डाली॥
हम ऐसी उनके केतिक हैं अंग-प्रसंग सुनहु री, आली!
सूरदास प्रभु प्रीति पुरातन सुमिरि सुमिरि राधा-उर साली॥८७॥

राग गौरी

ऊधो! क्यों राखौं ये नैन?
सुमिरि सुमिरि गुन अधिक तपत हैं सुनत तिहारो बैन॥
हैं जो मनोहर बदनचंद के सादर कुमुद चकोर।
परम-तृषारत सजल स्यामघन के जो चातक मोर॥
मधुप, मराल चरनपंकज के, गति-बिलास-जल मीन।
चक्रवाक, मनिदुति दिनकर के, मृग मुरली आधीन॥
सकल लोक सूनो लागतु है बिन देखे वा रूप।
सूरदास प्रभु नँदनंदन के नखसिख अंग अनूप॥८८॥

राग मलार

सँदेसनि मधुबन-कूप भरे।
जो कोउ पथिक गए हैं ह्याँ ते फिरि नहिं अवन करे॥
कै वै स्याम सिखाय समोधे[1] कै वै बीच मरे?
अपने नहिं पठवत नँदनंदन हमरेउ फेरि धरे॥
मसि खूँटी,[2] कागर जल भीजे, सर दव[3] लागि जरे।
पाती लिखैं कहो क्यों करि जो पलक-कपाट अरे?॥८९॥

राग नट

नँदनंदन मोहन सों मधुकर! है काहे की प्रीति?
जौ कीजे तौ है जल, रवि औ जलधर की सी रीति॥

(१) समोधे=समझा बुझा दिया। (२) खूँटी=चुक गई
(३) दव=दावाग्नि, आग।

जैसे मीन, कमल, चातक की ऐसे ही गइ बीति।
तलफत, जरत, पुकारत सुनु, सठ ! नाहिंन है यह रीति॥
मन हठि परे, कबंध-जुद्ध ज्यों, हारेहू भइ जीति।
बँधत न प्रेम-समुद्र सूर बल कहुँ बारुहिं की भीति॥९०॥

मधुबनियाँ लोगनि को पतिआय ?
मुख औरै अंतर्गत औरै पतियाँ लिखि पठवत हैं बनाय॥
ज्यों कोइलसुत काग जिआवत भाव-भगति भोजनहिं खवाय।
कुहकुहाय[1] आए बसंत ऋतु, अंत मिलै कुल अपने जाय॥
जैसे मधुकर पुहुप-बास लै फेरि न बूझै बातहु आय।
सूर जहाँ लौं स्यामगात हैं तिनसों क्यों कीजिए लगाय[2] ? ॥९१॥

हरि हैं राजनीति पढ़ि आए।
समुझी बात कहत मधुकर जो ? समाचार कछु पाए ?
इक अति चतुर हुते पहिले ही, अरु करि नेह दिखाए।
जानी बुद्धि बड़ी, जुवतिन को जोग सँदेस पठाए॥
भले लोग आगे के, सखि री ! परहित डोलत धाए।
वे अपने मन फेरि पाइए जे हैं चलत चुराए॥
ते क्यों नीति करत आपुन जे औरनि रीति छुड़ाए ?
राजधर्म सब भए सूर जहँ प्रजा न जायँ सताए॥९२॥

जोग की गति सुनत मेरे अंग आगि बई।
सुलगि सुलगि हम रही तन में फूँक आनि दई॥
जोग हमको भोग कुब्जहिं, कौने सिख सिखई ?
सिंह गज तजि तृनहिं खंडत सुनी बात नई॥
कर्मरेखा मिटति नाहीं जो विधि आनि ठई।
सूर हरि की कृपा जापै सकल सिद्धि भई॥९३॥

---

(१) [illegible] है। (२) लगाय = लगन, प्रीति।

राग धनाश्री

ऊधो ! जान्यो ज्ञान तिहारो ।
जानै कहा राजगति-लीला अंत अहीर विचारो ॥
हम सबै अयानी, एक सयानी कुबजा सों मन मान्यो ।
आवत नाहिं लाज के मारे, मानहु कान्ह खिस्यान्यो[1] ॥
ऊधो जाहु बाँह धरि ल्याओ सुन्दरस्याम पियारो ।
ब्याहौ लाख, धरौ[2] दस कुबरी, अंतहि कान्ह हमारो ॥
सुन, री सखी ! कछू नहिं कहिए माधव आवन दीजै ।
जबहीं मिलैं सूर के स्वामी हाँसी करि करि लीजै ॥६४॥

राग केदारो

उर में माखनचोर गड़े ।
अब कैसहु निकसत नहिं, ऊधो ! तिरछे ह्वै जो अड़े ॥
जदपि अहीर जसोदानंदन तदपि न जात छँड़े ।
वहाँ बने जदुबंस महाकुल हमहिं न लगत बड़े ॥
को वसुदेव, देवकी है को, ना जानैं औ बूझैं ।
सूर स्यामसुन्दर बिनु देखे और न कोऊ सूझैं ॥६५॥

राग सारंग

गोपालहिं कैसे कै हम देति ?
ऊधो की इन मीठी बातन निर्गुन कैसे लेति ?
अर्थ, धर्म, कामना सुनावत सब सुख मुकुति-समेति ।
जे व्यापकहिं विचारत बरनत निगम कहत हैं नेति ॥
ताकी भूलि गई मनसाहू देखहु जौ चित चेति ।
सूर स्याम तजि कौन सकत है, अलि, काकी गति एति ॥६६॥

---

(१) खिस्यान्यो = लजाया । (२) धरौ = रखो, बैठा लो ।

राग गौरी

उपमा एक न नैन गही।

कबिजन कहत कहत चलि आए सुधि करि करि काहू न कही ॥
कहे चकोर, मुख-बिधु बिनु जीवन; भँवर न, तहँ उड़ि जात।
हरिमुख - कमलकोस बिछुरे तें ठाले[1] क्यों ठहरात?
खंजन मनरंजन जन जौ पै, कबहुँ नाहिं सतरात।
पंख पसारि न उड़त, मंद ह्वै समर[2] - समीप बिकात ॥
आए बधन ब्याध ह्वै ऊधो, जौ मृग, क्यों न पलाय?
देखत भागि बसै घन बन में जहँ कोउ संग न धाय ॥
ब्रजलोचन बिनु लोचन कैसे? प्रति छिन अति दुख बाढ़त।
सूरदास मीनता कछू इक, जल भरि संग न छाँड़त[3] ॥ ६७ ॥

राग गौरी

हरिमुख निरखि निमेख बिसारे।

ता दिन तें मनो भए दिगंबर इन नैनन के तारे ॥
घूँघट-पट छांड़े बीथिन महँ अहनिसि अटत[4] उघारे।
सहज समाधि रूपरुचि इकटक टरत न टक तें टारे ॥
सूर, सुमति समुझति, जिय जानति, ऊधो! बचन तिहारे।
करैं कहा ये कह्यो न मानत लोचन हठी हमारे ॥६८॥

राग सारंग

दूर करहु बीना कर धरिबो।

मोहे मृग नाहीं रथ हाँक्यो, नाहिंन होत चंद को ढरिबो[5] ॥

---

(१) ठाले = ठाले में, अभाव में। (२) समर = स्मर, कामदेव। (३) कुछ थोड़ी सी मीनता रह गई है कि जल का संग नहीं छोड़ते, जला-भरे रहते हैं। नेत्रों की उपमा मछली से भी दी जाती है। (४) अटत = घूमते हैं। (५) मोहे...ढरिबो = बीना की तान से मोहित होकर चंद्रमा के

बीती जाहि पै सोई जानै कठिन है प्रेम-पास को परिबो।
जब तें बिछुरे कमलनयन, सखि, रहत न नयन नीर को गरिबो॥
सीतल चंद अगिनि सम लागत कहिए धीर कौन बिधि धरिबो।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु सब झूठो जतननि को करिबो॥९९॥

राग जैतश्री

अति मलीन बृषभानुकुमारी।
हरि-स्रमजल अतर-तनु भीजे ता लालच न धुआवति सारी।
अधोमुख रहति उरध नहिं चितवति ज्यों गथ[1] हारे थकित जुआरी।
छूटे चिहुर,[2] बदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर की मारी॥
हरि-सँदेस सुनि सहज मृतक भई, इक बिरहिनि दूजे अलि जारी।
सूर स्याम बिनु यों जीवति हैं ब्रजबनिता सब स्यामदुलारी॥१००॥

राग मलार

ऊधो! तुम हौ अति बड़भागी।
अपरस[3] रहत सनेहतगा तें, नाहिंन मन अनुरागी॥
पुरइनि-पात रहत जल-भीतर ता रस देह न दागी[4]।
ज्यों जल माँह तेल की गागरि बूँद न ताके लागी॥
प्रीति-नदी में पावँ न बोरयो, दृष्टि न रूप-परागी।
सूरदास अबला हम भोरी गुर चींटी ज्यों पागी॥१०१॥

ऊधो! यह मन और न होय।
पहिले ही चढ़ि रह्यो स्याम-रँग छुटत न देख्यो धोय॥

रथ के मृग चलते नहीं इससे न चंद्रास्त होता है न रात बीतती है। जायसी भी पद्मावत में यह उक्ति इस प्रकार लाये हैं—गहै बीन मकु रैन बिहाई। इत्यादि।

(१) गथ = पूँजी। (२) चिहुर = चिकुर, बाल। (३) अपरस = अनासक्त, दूर। (४) देह न दागी = देह में दाग नहीं लगाया।

कैतव[1]-बचन छाँड़ि हरि हमको सोइ करैं जो मूल।
जोग हमैं ऐसो लागत है ज्यों तोहिं चंपक फूल॥
अब क्यों मिटत हाथ की रेखा? कहौ कौन विधि कीजै?
सूर, स्याममुख आनि दिखाओ जाहि निरखि करि जीजै॥१०२॥

राग गौड़

ऊधो! ना हम बिरही, ना तुम दास।
कहत सुनत घट प्रान रहत हैं, हरि तजि भजहु अकास॥
बिरही मीन मरत जल बिछुरे छाँड़ि जियन की आस।
दास भाव नहिं तजत पपीहा बरु सहिं रहत पियास॥
प्रगट प्रीति दसरथ प्रतिपाली प्रीतम के बनवास।
सूर स्याम सों दृढ़व्रत कीन्हों मेटि जगत-उपहास॥१०३॥

राग सोरठ

ऊधो! कही सो बहुरि न कहियो।
जौ तुम हमहिं जिवायो चाहौ अनबोले[2] ह्वै रहियो॥
हमरे प्रान अघात होत हैं, तुम जानत हौ हाँसी।
या जीवन तें मरन भलो है करवट लैबो कासी[3]॥
जब हरि गवन कियौ पूरब लौं तब लिखि जोग पठायो।
यह तन जरिकै भस्म ह्वै निबर्‍यौ[4] बहुरि मसान जगायो॥
कै रे! मनोहर आनि मिलायो, कै लै चलु हम साथे।
सूरदास अब मरन बन्यो है, पाप तिहारे माथे॥१०४॥

---

(१) कैतव = छल, कपट। (२) अनबोले = चुप। (३) काशी करवट लेना = पहले लोग मुक्ति की इच्छा से काशी में अपने को आरे से चिरवा डालते थे, उसी को करवट लेना कहते थे। करवट = करपत्र, आरा। (४) भस्म ह्वै निबर्‍यौ = भस्म ही हो कर रहा।

राग सारंग

ऊधो ! तुम अपनो जतन करौ।
हित की कहत कुहित की लागै, किन वेकाज ररौ ?
जाय करौ उपचार आपनो, हम जो कहत हैं जी की।
कछू कहत कछुवै कहि डारत, धुन देखियत नहिं नीकी।
साधु होय तेहि उत्तर दीजै तुमसों मानी हारि।
याही तें तुम्हैं नँदनंदनजू यहाँ पठाए टारि॥
मथुरा वेगि गहौ इन पाँयन, उपज्यौ है तन रोग।
सूर सुवैद वेगि किन ढूँढ़ौ भए अर्द्धजल[1]-जोग॥१०

राग सोरठ

ऊधो ! जाके माथे भोग।
कुबजा को पटरानी कीन्हीं, हमहिं देत वैराग॥
तलफत फिरत सकल व्रजवनिता चेरी चपरि[2]*सोहाग।
वन्यो बनायो संग सखी री ! वै रे ! हंस वै काग॥
लौंडी के घर डौंड़ी वाजी स्याम राग अनुराग।
हाँसी, कमलनयन-संग खेलति वारहमासी फाग॥
जोग की वेलि लगावन आए काटि प्रेम को वाग।
सूरदास प्रभु ऊख छाँड़ि कै चतुर चिचोरत आग[3]॥१०६॥

---

(१) अर्द्धजल-जोग हुए = मरने के निकट हुए। (शव को दाह के पूर्व अर्द्ध जल देते हैं)। (२) चपरि = चुपककर, संयुक्त करके। (३) आग = आक, मदार।

* इसका अर्थ 'एकबारगी' होता है। तुलसी ने इसका कई स्थानों पर प्रयोग किया है।

राग सारंग

ऊधो ! अब यह समुझ भई ।
नँदनंदन के अंग अंग प्रति उपमा न्याय दई[1] ॥
कुंतल, कुटिल भँवर, भरि भाँवरि मालति भुरै लई ।
तजत न गहरु[2] कियो कपटी जब जानी निरस गई ॥
आनन-इंदुबरन-सँमुख तजि करखे तें न नई ।
निरमोही नहिं नेह, कुमुदिनी अंतहि हेम हई[3] ॥
तन घनस्याम सेइ निसिबासर, रटि रसना छिजई ।
सूर विवेकहीन चातक-मुख बूँदौ तौ न सई[4] ॥

राग धनाश्री

ऊधो ! हम अति निपट अनाथ ।
जैसे मधु तोरे की माखी त्यों हम बिनु ब्रजनाथ ॥
अधर-अमृत की पीर मुई, हम बालदसा तें जोरी ।
सो तौ बधिक सुफलकसुत लै गयो अनायास ही तोरी ॥
जब लगि पलक पानि मीड़ति रही तब लगि गए हरि दूरी ।
कै निरोध निवरे तिहि अवसर दै पग रथ की धूरी ॥
सब दिन करी कृपन की संगति, कबहुँ न कीन्हों भोग ।
सूर विधाता रचि राख्यो है, कुबजा के मुख-जोग ॥

राग सोरठ

ऊधो ! ब्रज की दसा विचारौ ।
ता पाछे यह सिद्धि आपनी जोगकथा बिस्तारौ ॥

---

(१) उपमा न्याय दई = उचित उपमाएँ दीं, अर्थात् अंगों ने उपमानों के अनुरूप ही आचरण किया । (२) गहरु = देर । (३) हेम हई = पाले से मारा या पाला मार गई । हेम = हिम, पाला । चन्द्रमा को हिमकर कहते हैं । (४) सई = गई ।

जेहि कारन पठए नँदनंदन सो सोचहु मन माहीं।
केतिक बीच विरह परमारथ जानत हौ किधौं नाहीं॥
तुम निज[1] दास जो सखा स्याम के संतत निकट रहत हौ।
जल बूड़त अवलम्ब फेन को फिरि फिरि कहा गहत हौ॥
वै अति ललित मनोहर आनन कैसे मनहिं बिसारौं।
जोग जुक्ति औ मुक्ति बिबिध विधि वा मुरली पर वारौं॥
जेहि उर बसे स्यामसुंदर घन क्यों निर्गुन कहि आवै।
सूरस्याम सोइ भजन बहावै जाहि दूसरो भावै॥१०६॥

राग सारंग

ऊधो ! यह हित लागै काहे ?
निसिदिन नयन तपत दरसन को तुम जो कहत हिय-माहे॥
नींद न परति चहूं दिसि चितवति विरह-अनल के दाहे।
उर तें निकसि करत क्यों न सीतल जो पै कान्ह यहाँ है॥
पा लागों ऐसेहि रहन दे अवधि-आस-जल-थाहे[2]।
जनि बोरहि निर्गुन-समुद्र में, फिरि न पायहौ चाहे[3]॥
जाको मन जाही तें राच्यो तासों बनै निवाहे।
सूर कहा लै करै पपीहा एते सर सरिता हैं ? ॥११०॥

राग सारंग

ऊधो ! ब्रज में पैंठ[4] करी।
यह निर्गुन, निर्मूल गाठरी अब किन करहु खरी॥
नफा जानिकै ह्याँ लै आए सबै वस्तु अकरी[5]।
यह सौदा तुम ह्वाँ लै बेंचौ जहाँ बड़ी नगरी॥

---

(१) निज—खास। (२) थाहे=थाह में। (३) चाहे=चाहने पर हमें फिर न पाओगे। (४) पैंठ=दूकान, हाट। (५) अकरी=महँगी।

हम ग्वालिन, गोरस दधि बेंचौ, लेहिं अबै सबरी।
सूर यहाँ कोउ गाहक नाहीं, देखियत गरे परी ॥११९॥

राग सारंग

गुप्त मते की बात कहौ जनि कहुँ काहू के आगे।
कै हम जानैं कै तुम, ऊधो! इतनो पावैं माँगे॥
एक बेर खेलत बृँदाबन कंटक चुभि गयो पाँय।
कंटक सों कंटक लै काढ्यो अपने हाथ सुभाय॥
एक दिवस बिहरत बन-भीतर मैं जो सुनाई भूख।
पाके फल वै देखि मनोहर चढ़े कृपा करि रूख॥
ऐसी प्रीति हमारी उनकी वसते गोकुल-बास।
सूरदास प्रभु सब बिसराई मधुवन कियो निवास ॥१२०॥

राग सारंग

मधुकर! राखु जोग की बात।
कहि कहि कथा स्यामसुंदर की सीतल करु सब गात॥
तेहि निर्गुन गुनहीन गुनैबो सुनि सुंदरि अनखात।
दीरघ नदी नाव कागद की को देख्यो चढ़ि जात?
हम तन हेरि, चितै अपनो पट देखि पसारहि लात।
सूरदास वा सगुन छाँड़ि छन जैसे कल्प बिहात ॥१२१॥

राग बिलावल

ऊधो! तुम अति चतुर सुजान।
जे पहिले रँग रंगी स्यामरँग तिन्हैं न चढ़ै रँग आन॥
द्वै लोचन जो विरद किए स्रुति गावत एक समान[1]।
भेद चकोर कियो तिनहू में विधु प्रीतम, रिपु भान॥

---

(१) दुइ लोचन·····समान = उपनिषद् आदि में सूर्य और चंद्रमा ईश्वर के दो नेत्र कहे गए हैं।

विरहिनि विरह भजै पा लागों तुम हौ पूरन-ज्ञान।
दादुर जल बिनु जियै पवन भखि, मीन तजै हठि प्रान॥
वारिजबदन नयन मेरे षटपद कब करिहैं मधुपान?
सूरदास गोपीन प्रतिज्ञा, छुवत न जोग बिरान[1]॥११४॥

ऊधो! कोकिल कूजत कानन।
तुम हमको उपदेस करत हौ भस्म लगावन आनन॥
औरौ सब तजि, सिंगी लै लै टेरन, चढ़न पखानन।
पै नित आनि पपीहा के मिस मदन हनत निज बानन॥
हम तौ निपट अहीरि बावरी जोग दीजिए ज्ञानिन।
कहा कथत मामी के आगे जानत नानी नानन॥
सुन्दरस्याम मनोहर मूरति भावति नीके गानन।
सूर मुकुति कैसे पूजति[2] है वा मुरली की तानन?॥११५॥

राग सारंग

ऊधो, हम अजान मतिभोरी।
जानति हैं ते जोग की बातें नागरि नवल किसोरी॥
कंचन को मृग कौनै देख्यौ, कौनै बाँध्यो डोरी?
कहु धौं, मधुप! बारि मथि माखन कौने भरी कमोरी[3]?
बिन ही भीत चित्र किन काढ़्यो, किन नभ बाँध्यो झोरी?
कहौ कौन पै कढ़त कनूकी[4] जिन हठि भूसी पछोरी॥
यह ब्यवहार तिहारो, बलि बलि! हम अबला मति थोरी।
निरखहिं सूर स्याम-मुख चंदहि अँखिया लगनि-चकोरी॥११६॥

(१) बिरान=बिराना, पराया। (२) पूजति है=बराबरी को पहुँचती है। (३) कमोरी=दूध, दही रखने की मटकी। (४) कनूकी=कण, दाना।

राग गौरी

ऊधो ! कमलनयन बिनु रहिए ।
इक हरि हमैं अनाथ करि छाँड़ी दुजे बिरह किमि सहिए ?
ज्यों ऊजर खेरे[1] की मूरति को पूजै, को मानै ?
ऐसी हम गोपाल बिनु ऊधो ! कठिन बिथा को जानै ?
तन मलीन, मन कमलनयन सों मिलिबे की धरि आस ।
सूरदास स्वामी बिन देखे लोचन मरत पियास ॥११७॥

राग सारंग

ऊधो ! कौन आहि अधिकारी ?
लै न जाहु यह जोग आपनो कत तुम होत दुखारी ?
यह तो बेद उपनिषद मत है महापुरुष ब्रतधारी ।
हम अहीरि अबला ब्रजबासिनि नाहिंन परत सँभारी ॥
को है सुनत, कहत हौ कासों; कौन कथा अनुसारी ?
सूर स्याम-सँग जात भयो मन अहि केंचुलि सी डारी ॥११८॥

राग जैतश्री

ऊधो ! जो तुम हमहिं सुनायो ।
सो हम निपट कठिनई करिकै या मन कौं समुझायो ॥
जुगुति जतन करि हमहुँ ताहि गहि सुपथ[2] पंथ लौं लायो ।
भटकि फिर्‌यो बोहित के खग ज्यों, पुनि फिरि हरि पै आयो ॥
हमको सबै अहित लागति है तुम अति हितहि बतायो ।
सर-सरिता-जल होम किये तें कहा अगिनि सचु[3] पायो ?
अब वैसो उपाय उपदेसौ जिहि जिय जात जियायो ।
एक बार जौ मिलहिं सूर प्रभु कीजै अपनो भायो ॥११९॥

(१) खेरा = गाँव । (२) सुपथ = अच्छा मार्ग । (३) सचु = सुख, संतोष ।

राग सारंग

ऊधो ! जोग बिसरि जनि जाहु ।
बाँधहु गाँठि कहूँ जनि छूटै फिरि पाछे पछिताहु ॥
ऐसी वस्तु अनूपम मधुकर मरम न जानै और ।
ब्रजबासिन के नाहिं काम की, तुम्हरे ही है ठौर ॥
जो हरि हित करि हमको पठयो सो हम तुमको दीन्हीं ।
सूरदास नरियर ज्यों विष को करै बंदना कीन्हीं ॥१२०॥

ऊधो ! प्रीति न मरन बिचारै ।
प्रीति पतंग जरै पावक परि, जरत अंग नहिं टारै ॥
प्रीति परेवा उड़त गगन चढ़ि गिरत न आप सम्हारै ।
प्रीति मधुप केतकी-कुसुम बसि कंटक आपु प्रहारै ॥
प्रीति जानु जैसे पय पानी जानि अपनपो जारै ।
प्रीति कुरंग नादरस, लुब्धक तानि तानि सर मारै ॥
प्रीति जान जननी सुत-कारन को न अपनपो हारै ?
सूर स्याम सों प्रीति गोपिन की कहु कैसे निरुवारै ।१२१॥

राग रामकली

ऊधो ! जाहु तुम्हैं हम जाने ।
स्याम तुम्हैं ह्याँ नाहिं पठाए तुम हौ बीच भुलाने ॥
ब्रजवासिन सों जोग कहत हौ, बातहु कहन न जाने ।
बड़ लागै न विवेक तुम्हारो ऐसे नए अयाने ॥
हमसों कही लई सो सहिकै जिय गुनि लेहु अपाने ॥
कहँ अबला कहँ दसा दिगंबर सँमुख करौ, पहिचाने ॥

(१) अपनपो = अपनापन, आत्मभाव ।

सांच कहौ तुमको अपनी सौं[1] बूझति बात निदाने।
सूर स्याम जब तुम्हैं पठाए तब नेकहु मुसुकाने ? ॥१२२॥

राग धनाश्री

ऊधो ! स्यामसखा तुम सांचे।
कै करि लियो स्वांग बीचहि तें, वैसेहि लागत कांचे।
जैसी कही हमहिं आवत ही औरनि कही पछिताते।
अपनो पति तजि और बतावत महिमानी कछु खाते[2]॥
तुरत गौन कीजै मधुबन को यहां कहां यह ल्याए ?
सूर सुनत गोपिन की बानी उद्धव सीस नवाए ॥१२३॥

राग केदारो

ऊधोजू ! देखे हौ ब्रज जात।
जाय कहियो स्याम सों या विरह को उत्पात॥
नयनन कछु नहिं सूझई, कछु श्रवन सुनत न बात।
स्याम बिन आंसुवन बूड़त दुसह धुनि भइ बात॥
आइए तो आइए, जिय बहुरि सरीर समात।
सूर के प्रभु बहुरि मिलिहौ पाछे हू पछितात॥१२४॥

राग नट

ऊधो ! बेगि मधुबन जाहु।
जोग लेहु संभारि अपनो बेंचिए जहँ लाहु[3]॥
हम बिरहिनी नारि हरि बिनु कौन करै निवाहु ?
तहां दीजै मूर पूजै,[4] नफा कछु तुम खाहु॥

---

(१) सौं=कसम, सौगंध। (२) महिमानी खाते=सत्कार पाते अर्थात् खूब कोसे जाते। (३) लाहु=लाभ। (४) मूर पूजै=मूल धन निकल आए।

जौ नहीं ब्रज में बिकानो नगरनारि बिसाहु।
सूर वै सब सुनत लैहैं जिय कहा पछिताहु ॥१२५॥

ऊधो ! कछु कछु समुझि परी।
तुम जो हमको जोग लाए भली करनि करी॥
एक विरह जरि रहीं हरि के, सुनत अतिहि जरी।
जाहु जनि अब लोन लावहु देखि तुमहिं डरी॥
जोग-पाती दई तुम कर बड़े जान[1] हरी।
आनि आस निरास कीन्ही, सूर सुनि हहरी[2] ॥१२६॥

राग धनाश्री

ऊधो ! सुनत तिहारे बोल।
ल्याए हरि-कुसलात धन्य तुम घर घर पार्‍यो गोल[3] ॥
कहन देहु कह करै हमारो बरि उड़ि जैहै झोल[4]।
आवत ही याको पहिंचान्यो निपटहि ओछो तोल॥
जिनके सोचन रही कहिबे तें, ते बहु गुननि अमोल।
जानी जाति सूर हम इनकी बतचल[5] चंचल लोल ॥१२७॥

राग नटनारायण

ऐसी बात कहौ जनि ऊधो !
ज्यों त्रिदोष उपजे जक लागति, निकसत वचन न सूधो॥
आपन तौ उपचार करौ कछु तब औरन सिख देहु।
मेरे कहे बनाय न राखौ थिर कै कतहूँ गेहु॥ घर

---

(१) जान=सुजान, चतुर। (२) हहरी=दहल गई। (३) गोल पार्‍यो=गड़बड़ मचाया, गोलमाल किया। (४) झोल=राख, भस्म। (५) बतचल=बकवादी।

जौ तुम पद्मपराग छांड़िकै करहु ग्राम-बसबास[1]।
तौ हम सूर यहौ करि देखैं निमिष छांड़हीं पास ॥१२८॥

राग नट

ऊधो ! जानि परे सयान।
नारियन को जोग लाए, भले जान सुजान ॥
निगम हू नहिं पार पायो कहत जासों ज्ञान।
नयनत्रिकुटी जोरि संगम जेहि करत अनुमान ॥
पवन धरि रबि-तन निहारत, मनहिं राख्यो मारि।
सूर सो मन हाथ नाहीं गयो संग बिसारि ॥१२९

राग धनाश्री

ऊधो ! मन नहिं हाथ हमारे।
रथ चढ़ाय हरि संग गए लै मथुरा जबै सिधारे ॥
नातरु कहा जोग हम छांड़हि अति रुचि कै तुम ल्याए।
हम तौ झकति[2] स्याम की करनी, मन लै जोग पठाए ॥
अजहूँ मन अपनो हम पावैं तुमतें होय तो होय।
सूर, सपथ हमैं कोटि तिहारी कहौ करैंगी सोय ॥१३०।

ऊधो ! जोग सुन्यो हम दुर्लभ।
आपु कहत हम सुनत अचंभित जानत हौ जिय सुल्लभ ॥
रेख न रूप बरन जाके नहिं ताकों हमैं बतावत।
अपनी कहो[3] दरस वैसे को तुम कबहूँ हौ पावत ?
मुरली अधर धरत है सो, पुनि गोधन वन वन चारत ?
नैन बिसाल भौंह बंकट[4] करि देख्यो कबहुँ निहारत ?

---

(१) बसबास=निवास। (२) झकति=झींखती हैं। (३) अपनी कहो=अपना हाल बताओ। (४) बंकट=टेढ़ी, वक्र।

उनके प्रेम-प्रीति मनरंजन, पै ह्याँ सकल सीलव्रतधारी।
सूर बचन मिथ्या, लँगराई[1] ये दोऊ ऊधो की न्यारी ॥137॥

ऊधो ! मन माने की बात।
जरत पतंग दीप में जैसे, औ फिरि फिरि लपटात ॥
रहत चकोर पुहुमि पर, मधुकर ! ससि[2] अकास भरमात।
ऐसो ध्यान धरो हरिजू पै छन इत उत नहिं जात ॥
दादुर रहत सदा जल-भीतर कमलहिं नहिं नियरात।
काठ फोरि घर कियो मधुप पै बंधे अंबुज के पात ॥
बरषा बरसत निसिदिन, ऊधो ! पुहुमी पूरि अघात।
स्वाति-बूंद के काज पपीहा छन छन रटत रहात ॥
सेहि[3] न खात अमृतफल भोजन तोमरि[4] को ललचात।
सूरज कृस्न कुबरी रीझे गोपिन देखि लजात ॥138॥

ऊधो ! खरिऐ जरी हरि के सूलन की।
कुंज कलोल करे बन ही बन सुधि बिसरी वा भूलन की।
ब्रज हम दौरि आँक भरि लीन्ही देखि छाँह नव मूलन की ॥
अब वह प्रीति कहाँ लौं बरनौं वा जमुना के कूलन की ॥
वह छबि छाकि रहे दोउ लोचन बहियां गहि बन झूलन की।
खटकति है वह सूर हिये मों माल दई मोहिं फूलन की ॥139॥

मधुकर ! हम न होहिं वे बेली।
जिनको तुम तजि भजत प्रीति बिनु करत कुसुमरस-केली ॥
बारे[5] तें बलबीर[6] बढ़ाई पोसी प्याई पानी।
बिन पिय-परस प्रात उठि फूलन होत सदा हित-हानी ॥

---

(1) लँगराई=लबारपन। (2) ससि=चन्द्रमा। (3) सेहि=साही पशु। (4) तोमरि=तुमड़ी, कड़ुआ घीया या लौका। (5) बारे तें=लड़कपन से। (6) बलबीर=बलराम के भाई, कृष्ण।

ये बल्ली बिहरत बृंदाबन अरुझीं स्याम-तमालहिं।
प्रेमपुष्प-रस-बास हमारे बिलसत मधुप गोपालहिं ॥
जोग-समीर धीर नहिं डोलत, रूपडार-ढिग लागी।
सूर पराग न तजत हिये तें कमल-नयन-अनुरागी ॥१४०

मधुकर! स्याम हमारे ईस।
जिनको ध्यान धरे उर-अंतर आनहिं नए न उन बिन सीस ॥
जोगिन जाय जोग उपदेसौ जिनके मन दस बीस।
एकै मन, एकै वह मूरति, नित बितवत दिन तीस ॥
काहे निर्गुन-ज्ञान आपुनो जित तित डारत खीस[1]।
सूरज प्रभू नंदनंदन हैं उनतें को जगदीस? ॥१४१

राग मलार

मधुकर! तुम हौ स्याम-सखाई।
पा लागों यह दोष बकसियो संमुख करत ढिठाई ॥
कौने रंक संपदा बिलसी सोवत सपने पाई?
किन सोने की उड़त चिरैया डोरी बांधि खिलाई?
धाम धुआँ के कहौ कौन के बैठी कहाँ अथाई[2]?
किन अकास तें तोरि तरैयाँ आनि धरी घर, माई!
बौरन की माला गुहि कौनै अपने करन बनाई?
बिन जल नाव चलत किन देखी, उतरि पार को जाई?
कौनै कमलनयन-व्रत बीड़ो[3] जोरि समाधि लगाई?
सूरदास तू फिरि फिरि आवत यामें कौन बड़ाई? ॥१४२॥

---

(१) खीस डारना=नष्ट कर डालना। (२) अथाई=बैठक, चौबारा। (३) बीड़ो जोरि=बीड़ा उठाकर, प्रतिज्ञा करके।

राग धनाश्री

मधुकर ! मन तो एकै आहि ।
सो तो लै हरि संग सिधारे जोग सिखावत काहि ?
रे सठ, कुटिल-बचन, रसलंपट ! अवलन तन धौं चाहि[1] ।
अब काहे को देत लोन हौ बिरहअनल तन दाहि ॥
परमारथ उपचार करत हौ, बिरहव्यथा नहिं जाहि ।
जाको राजदोष कफ व्यापै दही खवावत ताहि ॥
सुंदरस्याम-सलोनी-मूरति पूरि रही हिय माहिं ।
सूर ताहि तजि निर्गुन-सिंधुहि कौन सकै अवगाहि ? ॥१४३॥

राग सारंग

मधुकर ! छाँड़ु अटपटी बातें ।
फिरि फिरि बार बार सोइ सिखवत हम दुख पावति जातें ॥
अनुदिन देति असीस प्रांत उठि, अरु सुख सोवत न्हातें ।
तुम निसिदिन उर-अंतर सोचत ब्रजजुवतिन को घातें ॥
पुनि पुनि तुम्हैं कहत क्यों आवै, कछु जाने यहि नाते[2] ।
सूरदास जो रंगी स्यामरंग फिरि न चढ़त अब राते[3] ॥१४४॥

मधुप ! रावरी पहिचानि ।
बास रस लै अनत बैठे पुहुप को तजि कानि ॥
बाटिका वहु विपिन जाके एक जौ कुम्हलानि ।
फूल फूले सघन कानन कौन तिनकी हानि ?
कामपावक जरति छाती लोन लाए आनि ।
जोग-पाती हाथ दीन्हीं विष चढ़ायो सानि ॥

---

(१) चाहि=तू देख । (२) यहि नाते=इसी संबंध से, इसी कारण ।
(३) राते=लाल ।

सीस तें मनि हरी जिनके कौन तिनमें बानि[1]।
सूर के प्रभु निरखि हिरदय ब्रज तज्यो यह जानि ॥१४५॥

मधुकर ! स्याम हमारे चोर।

मन हरि लियो माधुरी मूरति चितै नयन की कोर ॥
पकर्‍यो तेहि हिरदय उर-अंतर प्रेम-प्रीति के जोर।
गए छंड़ाय छोरि सब बंधन दै गए हँसनि अंकोर[2] ॥
सोवत तें हम उचकि परी हैं दूत मिल्यो मोहिं भोर।
सूर स्याम मुसकनि मेरो सर्वस लै गए नंदकिसोर ॥१४६॥

मधुकर ! समुझि कहौ मुख बात।

हौ मद पिए मत्त, नहिं सूझत, काहे को इतरात ?
बीच जो परै[3] सत्य सो भाखै, बोलै सत्य स्वरूप।
मुख देखत को न्याव न कीजै, कहा रंक कह भूप ॥
कछु कहत कछुऐ मुख निकसत, परनिंदक व्यभिचारी।
ब्रजजुवतिन को जोग सिखावत कीरति आनि पसारी ॥
हम जान्यो सो भँवर रसभोगी जोग-जुगुति कहँ पाई ?
परम गुरू सिर मूँडि बापुरे करमुख[4] छार लगाई ॥
यहै अनीति बिधाता कीन्हीं तौऊ समुझत नाहीं।
जो कोउ परहित कूप खनावै परै सो कूपहि माहीं ॥
सूर सो वे प्रभु अंतर्यामी कासों कहौं पुकारी ?
तब अक्रूर अबै इन ऊधो दुहुँ मिलि छाती जारी ॥१४७॥

---

(१) बानि=वर्ण, आभा, कांति। (२) अँकोर=भेंट। (३) बीच जो परै=जो बीच में पड़ता है अर्थात् मध्यस्थ या दूत होता है। (४) कर-मुख=काले मुँहवाला, करमुँहा, भौंरे के काले मुँह के ऊपर पीला दाग होता है।

मधुकर ! हम जो कहौ करैं।
पठयो है गोपाल कृपा कै आयसु तें न टरैं ॥
रसना वारि फेरि नव खंड कै, दै निर्गुन के साथ।
इतनी तनक विलग जनि मानहुँ, अँखियाँ नाहीं हाथ ॥
सेवा कठिन, अपूरब दरसन कहत अबहुँ मैं फेरि।
कहियो जाय सूर के प्रभु सों केरा पास ज्यों बेरि[1] ॥१४८॥

राग धनाश्री

मधुकर ! तौ औरनि सिख देहु।
जानौगे जब लागैगो, हो, खरो कठिन है नेहु ॥
मन जो तिहारो हरिचरनन-तर, तन धरि गोकुल आयो।
कमलनयन के संग तें बिछुरे कहु कौने सचु पायो ?
छाँड़ि रहौ जाहु जनि मथुरा, झूठो माया-मोहु।
गोपी सूर कहत ऊधो सों हमहीं से तुम होहु ॥१४९॥

मधुकर ! जानत नाहिंन बात।
फूँकि फूँकि हियरा सुलगावत उठि न यहाँ तें जात ॥
जो उर बसत जसोदानंदन निर्गुन कहाँ समात ?
कत भटकत डोलत कुसुमन को तुम हौ पातन पात ?
जदपि सकल बल्ली बन बिहरत जाय बसत जलजात[2]।
सूरदास ब्रज मिले बनि आवै ? दासी की कुसलात ॥१५०॥

राग सारंग

तिहारी प्रीति किधौं तरवारि ?
दृष्टि-धार करि मारि साँवरे घायल सब ब्रजनारि ॥

(१) केरा.....बेरि=बेर के पेड़ के पास रहने से केले के डाल-पत्तों में बराबर काँटे चुभते रहते हैं। (२) जलजात=कमल।

रही सुखेत ठौर वृन्दावन, रनहु न मानति हारि।
विलपति रही संभारत छन छन बदन-सुधाकर-बारि॥
सुंदरस्याम-मनोहर-मूरति रहिहौं छबिहि निहारि।
रंचक सेष रही सूरज प्रभु अब जनि डारौ मारि॥१५१॥

राग धनाश्री

मधुकर! कौन मनायो मानै?
अबिनासी अति अगम अगोचर कहा प्रीति-रस जानै?
सिखवहु ताहि समाधि की बातें जैहैं लोग सयाने।
हम अपने ब्रज ऐसेहि बसिहैं बिरह-बाय-बौराने॥
सोवत जागत सपने सौंतुख[1] रहिहैं सो पति माने।
बालकुमार किसोर को लीलासिंधु सो तामें साने॥
पर्‍यो जो पयनिधि बूंद अलप[2] सो को जो अब पहिचाने?
जाके तन धन प्रान सूर हरि-मुख-मुसुकानि बिकाने॥१५२॥

राग मलार

मधुकर! ये मन बिगरि परे।
समुझत नाहिं ज्ञानगीता को हरि-मुसुकानि अरे॥
बालमुकुंद-रूप-रसराचे तातें बक्र खरे।
होय न सूधी स्वान पूँछि ज्यों कोटिक जतन करे॥
हरि-पद-नलिन बिसारत नाहीं सीतल उर संचरे।
जोग गंभीर[3] है अंधकूप तेहि देखत दूरि डरे॥
हरि-अनुराग सुहाग भाग भरे अमिय तें गरल गरे।
सूरदास वरु ऐसेहि रहिहैं कान्हवियोग-भरे॥१५३॥

---

(१) सौंतुख=सामने। (२) अलप=अल्प, थोड़ा। (३) गँभीर=गहरा।

मधुकर ! जौ तुम हितू हमारे।
तौ या भजन-सुधानिधि में जनि डारौ जोग-जल खारे ॥
सुनु सठ रीति, सुरभि पयदायक[1] क्यों न लेत हल फारे[2] ?
जो भयभीत होत रजु[3] देखत क्यों बढ़वत अहि कारे ॥
निज कृत बूझि, बिना दसनन हति तजत धाम नहिं हारे[4] ।
सो बल अछत निसा पंकज में दल-कपाट नहिं टारे ॥
रे अलि, चपल मोदरस-लंपट ! कतहि बकत बिन काज ?
सूर स्याम-छबि क्यों बिसरत है नखसिख अंग बिराज ? ॥१५४॥

राग सोरठ

मधुकर ! कौन गाँव की रीति ?
ब्रजजुवतिन को जोग-कथा तुम कहत सबै बिपरीति ॥
जा सिर फूल फुलेल मेलिकै हरि-कर ग्रंथैं छोरी ।
ता सिर भसम, मसान पै सेवन, जटा करत आघोरी ॥
रतनजटित ताटंक बिराजत अरु कमलन की जोति ।
तिन स्रवनन पहिरावत मुद्रा तोहिं दया नहिं होति ॥
बेसरि नाक, कंठ मनिमाला, मुखनि सार असवास ।
तिन मुख सिंगी कहौ बजावन, भोजन आक, पलास ॥
जा तन को मृगमद घसि चंदन सूछम[5] पट पहिराए ।
ता तन को रचि चीर पुरातन दै ब्रजनाथ पठाए ॥

(१) पयदायक=दूध देने वाली। (२) हल फारे=हल और फाल, अर्थात् गाय हल से क्यों नहीं जुतती ? (३) रजु=रज्जु, रस्सी। (४) निज कृत····हारे=अपने कर्म को देख, कि तू बिना काते छत्ता छोड़कर नहीं जाता। (५) सूछम=महीन।

वै अबिनासी ज्ञान घटैगो यहि बिधि जोग सिखाए।
करैं भोग भरिपूर सूर तहँ, जोग करैं ब्रज आए ॥१५५॥

राग नट

मधुकर ! ये नयना पै हारे।
निरखि निरखि मग कमलनयन को प्रेममगन भए भारे॥
ता दिन तें नींदौ पुनि नासी, चौंकि परत अधिकारे।
सपन तुरी[1] जागत पुनि सोई जो हैं हृदय हमारे॥
यह निगुन लै ताहि बतावो जो जानैं याके सारे।
सूरदास गोपाल छाँड़ि कै चूसैं टेटी[2] खारे ॥१५६॥

राग धनाश्री

मधुकर ! कह कारे की जाति ?
ज्यों जल मीन, कमल पै अलि की, त्यों नहिं इनकी प्रीति॥
कोकिल कुटिल कपट बायस छलि फिरि नहिं वहि वन जाति।
तैसेहि कान्ह केलि-रस अँचयो बैठि एक ही पाँति॥
सुत-हित जोग जज्ञ ब्रत कीजत बहु विधि नींकी भाँति।
देखहु अहि मन मोहमया तजि ज्यों जननी जनि[3] खाति॥
तिनको क्यों मन बिसमौ कीजै औगुन लौं सुख-सांति।
तैसेइ सूर सुनौ जदुनंदन, बजी एकस्वर तांति ॥१५७॥

राग रामकली

मधुकर ! ल्याए जोग-संदेसो।
भली स्याम-कुसलात सुनाई, सुनतहिं भयो अंदेसो॥
आस रही जिय कबहुँ मिलन की, तुम आवत ही नासी[4]।

---

(१) तुरी=तुरीयावस्था। (२) टेटी=करील का फल।
(३) जनि=जनकर, पैदा करके! (४) नासी=नष्ट की।

जुवतिन कहत जटा सिर बांधहु तो मिलिहैं अबिनासी॥
तुमको जिन गोकुलहिं पठायो ते बसुदेव-कुमार।
सूर स्याम मनमोहन बिहरत ब्रज में नंददुलार॥१५८॥

राग सोरठ

स्याम विनोदी रे मधुबनियाँ।
अब हरि गोकुल कांहे को आवहिं चाहत नवयौवनियाँ॥
वे दिन माधव भूलि बिसरि गए गोद खिलाए कनियाँ।
गुहि गुहि देते नंद जसोदा तनक कांच के मनियाँ[1]॥
दिना चारि तें पहिरन सीखे पट पीतांबर तनियाँ[2]।
सूरदास प्रभु तजी कामरी अब हरि भए चिकनियाँ[3]॥१५९॥

राग धनाश्री

ऊधो! हम ही हैं अति बौरी।
सुभग कलेवर कुंकुम खौरी। गुंजमाल अरु पीत पिछौरी॥
रूप निरखि दृग लागे ढोरी[4]। चित चुराय लयो मूरति सो, री!
गहियत सो जा समय अंकोरी[5]। याही तें बुधि कहियत बौरी॥
सूर स्याम सों कहिय कठोरी! यह उपदेस सुने तें बौरी॥१६०॥

कहाँ लगि मानिए अपनी चूक?
बिन गोपाल, ऊधो, मेरी छाती ह्वै न गई द्वै टूक॥
तन, मन, जौवन वृथा जात है ज्यों भुवंग की फूँक।
हृदय अग्नि को दवा बरत है, कठिन विरह की हूक[6]॥

---

(१) मनियाँ=गुरिया। (२) तनियाँ=तनी, कुरती।
(३) चिकनियाँ=छैला। (४) ढोरी लागे=सँग लगे,=पीछे हो लिए।
(५) अँकोरी=गोद। (६) हूक=ज्वाला, व्यथा, शूल।

जाकी मनि हरि लई सीस तें कहा करै अहि मूक ?
सूरदास ब्रजबास बसीं हम मनहूँ दाहिने सूक[1] ॥

राग कल्याण

ऊधों ! जोग जानै कौन ?
हम अबला कह जोग जानैं जियत जाको रौन[2] ॥
जोग हमपै होय न आवै, धरि न आवै मौन ।
बाँधिहैं क्यों मन-पखेरू साधिहैं क्यों पौन ?
कहौ अंबर पहिरि कै मृगछाल ओढ़ै कौन ?
गुरु हमारे कूबरी-कर-मंत्र-माला जौन ॥
मदनमोहन बिन हमारे परै बात न कौन[3] ?
सूर प्रभु कब आयहैं वे श्याम दुख के दौन[4] ? ॥११

राग केदारो

फिर ब्रज बसहु गोकुलनाथ ।
बहुरि न तुमहिं जगाय पठवौं गोधनन के साथ ॥
बरजौं न माखन खात कबहूँ, दैहौं देन लुटाय ।
कबहूँ न दैहौं उराहनो जसुमति के आगे जाय ॥
दौरि दाम न देहुँगी, लकुटी न जसुमति-पानि ।
चोरी न देहुँ उघारि, किए औगुन न कहिहौं आनि ॥

---

(१) दाहिने सूक=दक्षिण शुक्रग्रह होने पर (जो ज्योतिष में बुरा योग माना जाता है)। (२) रौन=रमण करने वाला, पति। (३) परै······कौन=कोई बात मन में नहीं पड़ती अर्थात् बैठती। (४) दौन=दमन करनेवाले।

करिहौं न तुमसों मान हठ, हठिहौं न माँगत दान।
कहिहौं न मृदु मुरली बजावन, करन तुमसों गान॥
कहिहौं न चरनन देन जावक, गुहन वेनी फूल।
कहिहौं न करन सिंगार बट-तर, बसन जमुना-कूल॥
भुज भूषननयुत कंध धरिकै रास नृत्य न कराउँ।
हौं संकेत-निकुंज वसिकै दूति-मुख न वुलाउँ॥
एक बार जु दरस दिखवहु प्रीति-पंथ वसाय।
चँवर करौं, चढ़ाय आसन, नयन अंग अंग लाय॥
देहु दरसन नंदनंदन मिलन ही की आस।
सूर प्रभु की कुँवर-छबि को मरत लोचन प्यास॥१६३

राग सारंग

कबहूँ सुधि करत गोपाल हमारी ?
पूछत नंद पिता ऊधो सों अरु जसुमति महतारी॥
कबहुँ तौ चूक परी अनजानत, कह अबके पछिताने ?
बासुदेव घर-भीतर आए हम अहीर नहिं जाने॥
पहिले गरग कह्यो हो हमसों, 'या देखे जनि भूलै'।
सूरदास स्वामी के बिछुरे राति-दिवस उर सूलै॥१६४॥

राग बिलावल

भली बात सुनियत हैं आज।
कोऊ कमलनयन पठयो है तन बनाय अपनो सो साज॥
बूझौ सखा कहौ कैसे कै, अब नाहीं कीबे कछु काज।
कंस मारि वसुदेव गृह आने, उग्रसेन को दीनो राज॥
राजा भए कहाँ है यह सुख, सुरभि-संग वन गोप-समाज ?
अब जो सूर करौ कोउ कोटिक नाहिंन कान्ह रहत ब्रज आज॥१६५

राग नट

ऊधो ! हम आजु भई बड़भागी ।
जैसे सुमन-गंध लै आवतु पवन मधुप अनुरागी ।
अति आनंद बढ़्यो अँग अँग मैं, परै न यह सुख त्यागी ।
बिसरे सब दुख देखत तुमको स्यामसुन्दर हम लागीं[1] ॥
ज्यों दर्पन मधि दृग निरखत जहँ हाथ तहाँ नहिं जाई ।
त्यों ही सूर हम मिलीं साँवरे बिरह-बिथा बिसराई ॥१६६॥

राग सारंग

पाती सखि ! मधुबन तें आई ।
ऊधो-हाथ स्याम लिखि पठई, आय सुनौ, री माई !
अपने अपने गृह तें दौरीं. लै पाती उर लाई ।
नयनन नीर निरखि नहिं खंडित. प्रेम न बिथा बुझाई ॥
कहा करौं सूनो यह गोकुल हरि बिनु कछु न सुहाई ।
सूरदास प्रभु कौन चूक ते स्याम सुरति बिसराई ? ॥१६७॥

उद्धव-वचन

राग नट

सुनु गोपी हरि को सँदेस ।
करि समाधि अंतर-गति चितवौ प्रभु को यह उपदेस ॥
वै अबिगत, अबिनासी, पूरन, घटघट रहे समाय ।
तिहि निश्चय कै ध्यावहु ऐसे सुचित कमलमन लाइ ॥
यह उपाय करि बिरह तजौगी मिलै ब्रह्म तब आय ।
तत्त्वज्ञान बिनु मुक्ति न होई निगम सुनावत गाय ॥
सुनत सँदेस दुसह माधव के गोपीजन बिलखानी ।
सूर बिरह की कौन चलावै, नयन ढरत अति पानी ॥१६८॥

---

(१) लागीं = मिलीं ।

राग सारंग

मधुकर ! भली सुमति मति खोई।
हाँसी होन लगी या ब्रज में जोगै राखौ गोई[1] ॥
आतमराम लखावत डोलत घटघट व्यापक जोई।
चापे[2] काँख फिरत निर्गुन को, ह्याँ गाहक नहिं कोई ॥
प्रेम-बिथा सोई पै जानै जापै बीती होई।
तू नीरस एती कह जानै ? बूझि देखिबे ओई ॥
बड़ो दूत तू, बड़े ठौर को, कहिए बुद्धि बड़ोई।
सूरदास पूरीषहिं[3] षटपद ! कहत फिरत है सोई ॥१६९॥

सुनियत ज्ञानकथा अलि गात।
जिहि मुख सुधा बेनुरवपूरित हरि प्रति छनहिं सुनात ॥
जहँ लीलारस सखी-समाजहिं कहत कहत दिन जात।
बिधिना फ़ेरि दियो सब देखत, तहँ षटपद समुझात[4] ॥
बिद्यमान रसरास लड़ैते कत मन इत अरुझात ?
रूपरहित कछु बकत बदन ते मति कोउ ठग भुरवात[5] ॥
साधुबाद स्रुतिसार जानिकै उचित न मन बिसरात।
नँदनंदन कर-कमलन को छबि मुख उर पर परसात ॥
एक एक ते सबै सयानी ब्रजसुँदरि न सकात[6]।
सूर स्याम-रससिंधुगामिनी नहिं वह दसा हिरात ॥१७०॥

ऊधो ! इतनी कहियो जाय।
अति कृसगात भई हैं तुम बिनु बहुत दुखारी गाय ॥

---

(१) गोइ राखहु = छिपा रखो। (२) चापे = दबाए हुए। (३) पूरीष = पुरीष, मल। (४) समुझात = समझाता है। (५) भुरवात = भुलाता है। (६) सकात = डरती हैं।

जल समूह बरसत अँखियन तें, हूंकत[1] लीने नाँव।
जहाँ जहाँ गोदोहन करते ढूँढ़त सोइ सोई ठाँव॥
परति पछार खाय तेहि तेहि थल अति व्याकुल ह्वै दीन।
मानहुँ सूर काढ़ि डारे हैं बारि मध्य तें मीन॥१७१॥

ऊधो जोग सिखावन आए।

सिंधी, भस्म, अधारी, मुद्रा लै ब्रजनाथ पठाए॥
जौपै जोग लिख्यो गोपिन को, कस रसरास खिलाए?
तबहिं ज्ञान काहे न उपदेस्यो, अधर-सुधारस प्याए॥
मुरली-सब्द सुनत बन गवनति सुत पति गृह बिसराए।
सूरदास सँग छाँड़ि स्याम को मनहिं रहे पछिताए॥१७२॥

ऊधो! लहनौ अपनो पैए।

जो कछु विधना रची सो भइए आन दोष न लगैए॥
कहिए कहा जु कहत बनाई सोच हृदय पछितैए।
कुब्जा बर पावै मोहन सो, हमहीं जोग बतैए॥
आज्ञा होय सोई तुम कहिबो, बिनती यहै सुनैए।
सूरदास प्रभु-कृपा जानि जो दरसन-सुधा पिवैए॥१७३॥

ऊधो! कहा करैं लै पाती?

जौ लगि नाहिं गोपालहिं देखति बिरह दहति मेरी छाती॥
निमिष एक मोहिं बिसरत नाहिंन सरद-समय की राती।
मन तौ तबही तें हरि लीन्हों जब भयो मदन बराती॥
पीर पराई कह तुम जानौ तुम तो स्याम-सँघाती।
सूरदास स्वामी सों तुम पुनि कहियो ठकुरसुहाती[2]॥१७४॥

---

(१) हूंकत = हुँकरती हैं, हुँकार मारती हैं। (२) ठकुरसुहाती = चापलूसी, खुशामद।

ऊधो ! बिरहौ प्रेमु करै[1]।
ज्यों बिनु पुट पट गहै न रंगहिं[2], पुट गहे रसहि परै ॥
जौ आँवौं[3] घट दहत अनल तनु तौ पुनि अमिय भरै ।
जौ[4] धरि बीज देह अंकुर चिरि तौ सत फरनि फरै ॥
जौ सर सहत सुभट संमुख रन तौ रबिरथहि सरै ।
सूर गोपाल प्रेमपथ-जल तें कोउ न दुखहिं डरै ॥१७५

ऊधो ! इतनी जाय कहो ।
सब बल्लभी कहति हरि सों ये दिन मधुपुरी रहो ॥
आज काल तुमहूँ देखत हौ तपत तरनि[5] सम चंद ।
सुंदरस्याम परम कोमल तनु क्यों सहिहैं नँदनंद ॥
मधुर मोर पिक परुष[6] प्रबल अति बन उपबन चढ़ि बोलत ।
सिंह. बृकन सम गाय बच्छ ब्रज बीथिन बीथिन डोलत ॥
आसन असन, बसन विष अहि सम भूषन भवन भँडार ।
जित तित फिरत दुसह द्रुम द्रुम प्रति धनुष लए सत मार[7] ॥
तुम तौ परम साधु कोमलमन जानत हौ सब रीति ।
सूर स्याम को क्यों बोलैं[8] ब्रज बिन टारे यह ईति[9] ॥१७६

राग मलार

जौ पै ऊधो ! हिरदय माँझ हरी ।
तौ पै इती अवज्ञा उनपै कैसे सही परी ?

---

(१) बिरहौ प्रेमु करै = बिरह से भी प्रेम होता या बढ़ता है । (२) ज्यों बिनु पुट ... रंगहि = जैसे बिना पुट दिए कपड़े पर रंग नहीं चढ़ता । (३) आँवाँ = आँवाँ जिसमें मिट्टी के बरतन पकते हैं । (४) जौ धरि बीज ... फरै = जब बीज चिरकर देह में अंकुर धारण करता है तब सैकड़ों प्रकार के फल फलता है । (५) तरनि = सूर्य । (६) परुष = कठोर, कड़े । (७) मार = कामदेव । (८) बोलैं = बुलावें । (९) ईति = बाधा, उपद्रव ।

तबहिं दवा[1] द्रुम दहन न पाये, अब क्यों देह जरी ?
सुन्दरस्याम निकसि उर तें हम सीतल क्यों न करी ?
इंद्र रिसाय बरस नयनन मग, घटत न एक घरी।
भीजत सीत भीत तन काँपत रहे, गिरि क्यों न धरी।
कर कंकन दर्पन लै दोऊ अब यहि अनख[2] मरी।
एतो मान सूर सुनि योग जु बिरहिनि बिरह धरी ॥१७७॥

ऊधो ! इतै हितूकर[3] रहियो।
या ब्रज के ब्योहार जिते हैं सब हरि सों कहियो।
देखि जात अपनी इन आँखिन दावानल दहियो।
कहँ लौं कहौं बिथा अति लाजति यह मन को सहियो ॥
कितो प्रहार करत मकरध्वज हृदय फारि चहियौ।
यह तन नहिं जरि जात सूर प्रभु नयनन को बहियौ ॥१७८॥

ऊधो ! यहि ब्रज बिरह बढ़्यो।
घर, बाहिर, सरिता, बन, उपबन, बल्ली, द्रुमन चढ्यो ॥
बासर-रैन सधूम भयानक दिसि दिसि तिमिर मढ्यो।
द्वँद करत अति प्रबल होत पुर, पय सों अनल डढ्यो ॥
जरि किन होत भस्म छन महियाँ हा हरि, मँत्र पढ्यो।
सूरदास प्रभु नँदनँदन बिनु नाहिंन जात कढ्यो ॥१७९॥

राग धनाश्री

ऊधो ! तुम कहियो ऐसे गोकुल आवैं।
दिन दस रहे सो भली कीनी अब जनि गहरु लगावैं ॥
तुम बिनु कछु न सुहाय प्रानपति कानन भवन न भावैं।

---

(१) दवा = बंन की आग। (२) अनख = रिस, कुढ़न, क्रोध।
(३) हितूकर = कृपालु।

बाल बिलख, मुख गौ न चरत तृन, बछरनि छीर न प्यावैं ॥
देखत अपनी आँखिन, ऊधो, हम कहि कहा जनावैं।
सूर स्याम बिनु तपति रैन-दिनु हरिहिं मिले सचु पावैं ॥१८

ऊधो ! अब जो कान्ह न ऐहैं।

जिय जानौ अरु हृदय बिचारौ हम न इतो दुख सैहैं ॥
बूझौ जाय कौन के ढोटा, का उत्तर तब दैहैं ?
खायो खेल्यो संग हमारे, ताको कहा बनैहैं ॥
गोकुलमनि मथुरा के बासी कौ लों झूठो कैहैं।
अब हम लिखि पठवन चाहति हैं वहाँ पाति नहिं पैहैं।
इन गैयन चरिबा छाँड्यो है जो नहिं लाल चरैहैं।
एते पै नहिं मिलत सूर प्रभु फिरि पाछे पछितैहैं ॥१८१॥

ऊधो ! हमैं दोउ कठिन परी।

जो जीवैं तो, सुन सठ ! ज्ञानी, तन तजैं रूपहरी ॥
गुन गावैं तौ सुक-सनकादिक, संग धावैं तौ लीला करी।
आसा अवधि सँतोष धरैं तौ धार्मिक ब्रज-सुन्दरी ॥
स्यामा हैं सब सखी सुजाती पै सब बिरह-भरी।
सोक-सिंधु तरिबे की नौका जिहि मुख मुरलि धरी ॥
निसिदिन फिरत निरंकुस अति बड़ मातो मदन-करी[1]।
डाहैगो सब धाम सूर जो चितौ न वह केहरी ॥१८२॥

ऊधो ! बहुतै दिन गए चरनकमल-विमुख ही।
दरस-हीन, दुखित दीन, छन छन बिपदा सही ॥
रजनी अति प्रमपीर, गृह बन मन धरै न धीर।
बासर मग जोवत, उर सरिता बही नयननीर ॥

(१) करी = हाथी।

आवन की अवधि आस सोई गनि घटत स्वास।
इतो विरह बिरहिनि क्यों सहि सकै कह सूरदास ? ॥१८३॥

राग आसावरी

ऊधो ! कहत न कछू बनै।
अधरामृत- आस्वादिनि रसना कैसे जोग भनै ?
जेहि लोचन अवलोके नखसिख-सुन्दर नंदतनै।
ते लोचन क्यों जायँ और पथ लै पठए अपनै ?
रागिनि राग तरँग तान घन जे स्रुति मुरलि सुनै।
ते स्रुति जोग-सँदेस कठिन कह काँकर मेलि हनै॥
सूरदास स्यामा मोहन के यह गुन बिबिध गुनै।
कनकलता तें उपज न मुक्ता, षटपद ! रंग चुनै॥१८४॥

राग मारू

ऊधो ! इन नयनन नेम लियो।
नँदनंदन सों पतिव्रत बाँध्यो, दरसत नाहि बियो[1]॥
इंदु चकोर, मेघ प्रति चातक जैसे धरन दियो।
तैसे ये लोचन गोपालै इकटक प्रेम पियो॥
ज्ञानकुसुम लै आए ऊधो ! चपल न उचित कियो।
हरिमुख-कमल अमियरस सूरज चाहत वहै लियो॥१८५॥

राग केदारो

ऊधो ! व्रजरिपु बहुरि जिए।
जे हमरे कारन नँदनंदन हति हति दूरि किए॥
निसि के वेष बकी है आवति अति डर करति सकंप हिए।
तिन पय तें तन प्रान हमारे रवि ही छिनक छिनाय लिए॥

---

(१) बियो = दूसरा।

बन वृकरूप, अघासुर सम गृह, कितहू तौ न चितै सकिए।
कोटिक कालीसम कालिंदी, दोपन सलिल न जात पिए॥
अरु ऊँचे उच्छ्वास तृनाव्रत तिहि सुख सकल उड़ाय दिए।
केसी सकल कर्म केसव बिन, सूर सरन काकी तकिए? ॥१८६॥

राग सारंग

ऊधो! कहिए काहि सुनाए?
हरि बिछुरत जेती सहियत हैं इते बिरह के घाए॥
बरु माधव मधुवन ही रहते, कत जसुदा के आए?
कत प्रभु गोप-वेष ब्रज धार्‌यो, कत ये सुख उपजाए?
कत गिरि धारि इँद्र-मद मेट्यो, कत वन रास बनाए?
अब कह निठुर भए हम ऊपर लिखि लिखि जोग पठाए?
परम प्रवीन सबै जानत हौ, तातें यह कहि आए।
अपनी कौन कहै सुनु सूरज मात-पिता बिसराए॥१८७॥

ऊधो! भली करी गोपाल।
आपुन तौ आवत नाहीं ह्याँ, वहाँ, रहे यहि काल॥
चन्दन चन्द हुतो तब सीतल, कोकिलसब्द रसाल।
अब समीर पावक सम लागत, सब ब्रज उलटी चाल॥
हार, चीर, कंचुकि कंटक भए, तरनि तिलक भए भाल।
सेज सिंह, गृह तिमिर-कंदरा, सर्प सुमन-मनिमाल।
हम तौ न्याय सहैं एतो दुख बनवासी जो ग्वाल।
सूरदास स्वामी सुखसागर भोगी भ्रमर भुवाल॥१८८॥

राग सोरठ

अपने मन सुरति करत रहिबो।
ऊधो! इतनी बात स्याम सों समय पाय कहिबो॥

घोष बसत की चूक हमारी कछू न जिय गहिबी।
परम दीन जदुनाथ जानिकै गुन बिचारि सहिबी॥
एकहि बार दयाल दरस दै बिरह-रासि दहिबी।
सूरदास प्रभु बहुत कहा कहौं बचन-लाज बहिबी॥१८९॥

राग केदारो

उधो! नँदनंदन सों इतनी कहियो।
जद्यपि ब्रज अनाथ करि छाँड़्यो तदपि बार इक चित करि रहियो॥
तिनकातोर[1] करौ जनि हमसों एक वास की लज्जा गहियो।
गुन-औगुनन रोष नहिं कीजत दासनिदासि की इतनी सहियो॥
तुम बिन स्याम कहा हम करिहैं यह अवलंब न सपने लहियो।
सूरदास प्रभु यह कहि पठई कहाँ जोग कहँ पीवन दहियो॥१९०॥

राग सारंग

ऊधो! हरि करि पठवत जेती।
जौ मन हाथ हमारे होतो तौ कत सहती एती?
हृदय कठोर कुलिस हू तें अति तामें चेत अचेती।
तब उर बिच अंचल नहिं सहती, अब जमुना की रेती॥
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन को, सरन देहु अब सेंती[2]।
बिन देखे मोहिं कल न परत है जाको स्रुति गावत है नेती॥१९१॥

राग सोरठ

ऊधो! यह हरि कहा कर्‌यौ?
राजकाज चित दियो साँवरे, गोकुल क्यों बिसर्‌यौ?
जौ लों घोष रहे तौ लों हम सँतत सेवा कीनी।
वारक कबहुँ उलूखल परसे, सोई मानि जिय लीनी॥

---

(१) तिनकातोर = नातातोड़, संबंध-त्याग। (२) अब सेंती = अब से।

ऊधो ! जो हरि आवैं तो प्रान रहैं।
आवत, जात, उलटि फिरि बैठत जीवन-अवधि गहे ॥
जब हे दाम उखल सों बाँधे वदन नवाय रहे।
चुभि जु रही नवनीत-चोर-छवि, क्यों भूलति सो ज्ञान गहे ?
तिनसों ऐसी क्यों कहि आवै जे कुल-पति की त्रास महे[1] ?
सूर स्याम गुन-रसनिधि तजिकै को घटनीर बहे ? ॥१६८॥

ऊधो ! यह निस्चय हम जानी।
खोयो गयो नेहनग उनपै, प्रीति-कोठरी भई पुरानी ॥
पहिले अधरसुधा करि सींची, दियो पोष बहु लाड़ लड़ानी।
बहुरै खेल कियो के सब सिसु-गृहरचना ज्यों चलत बुझानी ॥
ऐसे ही परतीति दिखाई पन्नग केंचुरि ज्यों लपटानी।
बहुरौ सुरति लई नहिं जैसे भँवर लता त्यागत कुम्हिलानी ॥
बहुरंगी जहँ जाय तहाँ सुख, एकरंग दुख देह दहानी[2]।
सूरदास पसु धनी. चोर के खायो चाहत दाना पानी ॥१६६।

ऊधो ! हम हैं तुम्हरी दासी।
काहे को कटु बचन कहत हौ, करत आपनी हाँसी ॥
हमरे गुनहि गाँठि किन बाँध्यो, हमपै कहा विचार ?
जैसी तुम कीनी सो सब ही जानतु है संसार ॥
जो कछु भली बुरी तुम कहिहौ सो सब हम सहि लैहैं।
अपनो कियो आप भुगतैंगी दोष न काहू दैहैं ॥
तुम तौ बड़े, बड़े के पठए, अरु सबके सरदार।
यह दुख भयो सूर के प्रभु सुनि कहत लगावन छार ॥२००॥

(१) महे = मथ डाला, नष्ट किया। (२) दहानी = जली।

ऊधो ! तुम जो कहत हरि हृदय रहत हैं।
कैसे होय प्रतीति क्रूर सुनि ये बातैं जु सहत हैं।
वासर-रैनि कठिन बिरहानल अंतर प्रान दहत है।
प्रजरि प्रजरि[1] पचि निकसि धूम अब नयनन नीर वहत है।।
अधिक अवज्ञा होत, देह दुख मर्यादा न गहत है।
कहि ! क्यों मन मानै सूरज प्रभु इन बातनि जु कहत है ।।२०१।।

ऊधो ! तुमहीं हौ सब जान[2] ।
हमको सोई सिखावन दीजै नँदसुवन की आन ।।
आमिष भोजन हित है जाके सो क्यों साग प्रमान।
ता मुख सेमि-पात क्यों आवत जा मुख खाए पान ?
किंगिरी-सुर कैसे सचु मानत सुनि मुरली को गान ?
ता भीतर क्यों निर्गुन आवत जा उर स्याम सुजान ?
हम बिन स्याम बियोगिनि रहिहैं जब लग यहि घट प्रान ।
सुख ता दिन तें होय सूर प्रभु ब्रज आवैं ब्रजभान ।।२०२।।

ऊधो ! यहै विचार गहौ।
कै तन गए भलो मानैं, कै हरि ब्रज आय रहौ ।।
कानन - देह बिरह - दव लागी इन्द्रिय - जीव जरौ।
बुझै स्याम-घन कमल - प्रेम मुख मुरली - बूँद परौ ।।
चरन - सरोवर - मनस[3] मीन - मन रहै एक रसरीति ।
तुम निर्गुनबारू महँ डारौ; सूर कौन यह नीति ? ।।२०३।।

ऊधो ! कत वे बातें चाली ?
अति मीठी मधुरी हरि - मुख की हैं उर - अंतर साली ।।

---

(१) प्रजरि = सुलगकर। (२) जान = सुजान, चतुर। (३) सरोवर मनस = मानस सरोवर।

स्याम सघन तन सींची वेली, हस्तकमल धरि पाली।
अब ये बेली सूखन लागीं, छाँड़ि दई हरि-माली॥
तब तो कृपा करत व्रज ऊपर संग लता व्रजबाली।
सूर स्याम बिन मरि न गई क्यों बिरहबिथा की घाली[1]?॥२०४॥

राग केदारो

ऊधो! जो हरि हितू तिहारे।
तौ तुम कहियो जाय कृपाकै जे दुख सबै हमारे॥
तन तरुवर ज्यों जरति बिरहिनी, तुम दव ज्यों हम जारे।
नहिं सिरात[2], नहिं जरत छार ह्वै सुलगि सुलगि भए कारे॥
जद्यपि उमगि प्रेमजल भिजवत बरषि बरषि घन-तारे[3]।
जौ सींचे यहि भाँति जतन करि तौ इतने प्रतिपारे॥
कीर, कपोत, कोकिला, खँजन वधिक-वियोग विडारे।
इन दुःखन क्यों जियहिं सूर प्रभु व्रज के लोग बिचारे?॥२०५॥

राग सारंग

ऊधो! तुम आए किहि काज?
हित को कहत अहित की लागत, बकत न आवै लाज॥
आपुन को उपचार करौ कछु तब औरनि सिख देहु।
मेरे कहे जाहु सत्वर ही, गहौ सीयरे गेहु[4]॥
ह्वाँ भेषज नानाबिधि के अरु मधुरिपु से हैं बैदु।
हम कातर डराति अपने सिर कहुँ कलँक ह्वै कैदु[5]॥

(१) घाली = मारी हुई। (२) सिरात = ठंढी होती है। (३) तारे = आँख की पुतली रूपी बादल। (४) गहौ सियरे गेहु = ठंढे ठंढे घर का रास्ता पकड़ो अर्थात् चुपचाप घर जाओ। (५) कैदु = कदाचित्।

साँची बात छाँड़ि अब झूठी कहौ कौन बिधि सुनिहैं ?
सूरदास मुक्ताफलभोगी हंस बहि[1] क्यों चुनिहैं ? ॥२०६॥

राग बिलावल

ऊधो ! तुम कहियो हरि सों जाय हमारे जिय को दरद ।
दिन नहिं चैन, रैन नहिं सोवत, पावक भई जुन्हैया सरद ॥
जब ते अक्रूर लै गए मधुपुरी, भई बिरह तन बाय[2] छरद[3] ।
कीन्हीं प्रबल जगी अति, ऊधो ! लोचन भइ जस पीरी हरद[4] ।
सखा प्रबीन निरंतर हौ तुम ताते कहियत खोलि परद[5] ।
काथ रूप दरसन बिन हरि के सूर मूरि नहिं हियो सुरद[6] ॥२०७॥

राग गौरी

ऊधो ! क्यों आए ब्रज धावते ?
सहायक, सखा राजपदवी मिलि दिन दस कछुक कमावते ॥
कह्यो जु धर्म कृपा करि कानन सो उत बसिकै गावते ।
गुरु निवर्त्ति देखि आँखिन जे स्नाता सकल अघावते ।
इत कोउ कछू न जानत हरि बिन, तुम कत जुगुति बनावते ?
जो कछु कहत सबन सों तुम सो अनुभव कै सुख पावते ॥
मनमोहन बिन देखे कैसे उर सों औरहिं चाहते ?
सूरदास प्रभु दरसन बिनु वह बार बार पछितावते ॥२०८॥

राग देसाख

ऊधो ! यहै प्रकृति परि आई तेरे ।
जो कोउ कोटि करै कैसे हू फिरत नहीं मन फेरे ॥
जा दिन तें जसुदागृह आए मोहन जादवराई ।

---

(१) बहि = आग । (२) बाय = बाई । (३) छरद = छर्दि, वमन । (४) हरद = हलदी । (५) परद = परदा । (६) सुरद = सुहृद ।

ता दिन तें हरिदरस परस बिनु और न कछू सुहाई ॥
क्रीड़त हँसत कृपा अवलोकत, जुग छन भरि तब जात।
परम तृप्त सबहिन तन होती, लोचन हृदय अघात ॥
जागत, सोवत, स्वप्न स्यामघन सुंदर तन अति भावै।
सूरदास अब कमलनयन बिनु बातन हो बहरावै ॥२०६॥

राग धनाश्री

ऊधो! मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो हरि के सँग, को अराध तुव ईस?
भईं अति सिथिल सबै माधव बिनु जथा देह बिन सीस।
स्वासा अटकि रहे आसा लगि, जीवहिं कोटि बरीस ॥
तुम तौ सखा स्यामसुंदर के सकल जोग के ईस।
सूरजदास रसिक की बतियाँ पुरवौ मन जगदीस ॥२१०॥

राग मलार

ऊधो! तुम सब साथी भोरे।
मेरे कहे बिलग मानौगे, कोटि कुटिल लै जोरे ॥
वै अक्रूर क्रूर कृत तिनके, रीते भरे, भरे गहि ढोरे[1]।
वै घनस्याम, स्याम अंतरमन, स्याम काम महँ बोरे ॥
ये मधुकर दुति निर्गुन गुनते, देखे फटकि पछोरे।
सूरदास कारन संगति के कहा पूजियत[2] गोरे? ॥२११॥

राग सोरठ

ऊधो! समुझावै सो बैरनि।
रे मधुकर! निसिदिन मरियतु है कान्हकुँवर-औसेरनि[3] ॥

---

(१) ढोरे = ढाले, ढरकाए। (२) पूजियत = पूरे पड़ते हैं, पहुँचते हैं। (३) औसेर = बाधा या दुःख।

चित चुभि रही मोहनी मूरति, चपल दृगन की हेरनि।
तन मन लियो चुराय हमारो वा मुरली की टेरनि॥
बिसरति नाहिं सुभग तन-सोभा पीताम्बर की फेरनि।
कहत न बनै काँध लकुटी धरि छबि बन गायन घेरनि॥
तुम प्रबीन, हम बिरहि, बतावत आँखि मूँदि भटभेरनि[1]॥
जिहि उर बसत स्यामघन सो क्यों परै मुक्ति के झेरनि[2]।
तुम हमको कहँ लाए, ऊधो! जोग-दुखन के ढेरनि।
सूर रसिक बिन क्यों जीवत हैं निगुन कठिन करेरनि ? ॥२१२॥

राग सारंग

ऊधो! स्यामहिं तुम लै आओ।
ब्रजजन-चातक प्यास मरत हैं, स्वातिबूँद बरसाओ॥
घोष-सरोज भए हैं संपुट, दिनमनि ह्वै बिगसाओ।
ह्याँ तें जाव बिलम्ब करौ जनि, हमरी दसा सुनाओ॥
जौ ऊधो हरि यहाँ न आवैं, हमको तहाँ बुलाओ।
सूरदास प्रभु वेगि मिलाए संतन में जस पाओ॥२१३॥

ऊधोजू! जोग तबहिं हम जान्यो।
जा दिन तें सुफलकसुत के संग रथ ब्रजनाथ पलान्यो॥
जा दिन तैं सब छोह-मोह मिटि सुत-पति-हेत भुलान्यो।
तजि माया संसारसार की ब्रजबनितन ब्रत ठान्यो॥
नयन मुँदे, मुख रहे मौन धरि, तन तपि तेज सुखान्यो।
नंदनँदन-मुख मुरलीधारी, यहै रूप उर आन्यो॥
सोउ सँजोग जिहि भूलैं हम कहि तुमहूँ जोग बखान्यो।
ब्रह्मा पचि पचि मुए प्रान तजि तऊ न तिहि पहिंचान्यो॥

(१) भटभेर=मुठभेड़, धक्कमधुक्का। (२) झेर=झंझट।

कहौ सु जोग कहा लै कीजै ? निर्गुन परत न जान्यो।
सूर वहै निज रूप स्याम को उर माहिं समान्यो ॥२१४॥

ऊधो ! वै सुख अबै कहाँ ?
छन छन नयनन निरखति जो मुख, फिरि मन जात तहाँ ॥
मुख मुरली, सिर मोरपखौआ उर घुँघुचिन को हारु।
आगे धेनु रेनु तन-मण्डित तिरछी चितवनि चारु ॥
राति-द्यौस तब संग आपने, खेलत, बोलत, खात।
सूरदास यह प्रभुता चितवत कहि न सकति वह बात ॥२१५॥

कहि, ऊधो ! हरि गए तजि मथुरा कौन बड़ाई पाई।
भुवन चतुर्दस की बिभूति वह, नृप की जूठि पराई ॥
जो यह काज करै ताको सेवक स्तुति पढ़ै बताई।
सेवत सेवत जन्म घटावत करत फिरत निठुराई ॥
तुम तौ परम साधु अन्तरहित जनि कछु कहौ बनाई।
सूर स्याम मन कहा बिचार्‍यो, कौन ठगौरी लाई ? ॥२१६॥

राग धनाश्री

ऊधो ! जाय बहुरि सुनि आवहु कहा कह्यो है नंदकुमार।
यह न होय उपदेस स्याम को कहत लगावन छार ॥
निर्गुन-ज्योति कहा उन पाई सिखवत बारम्बार।
काल्हिहि करत हुते हमरे अँग अपने हाथ सिंगार ॥
व्याकुल भए गोपालहि बिछुरे गयो गुनज्ञान सँभार।
तातें ज्यों भावै त्यों बकत हौ, नाहीं दोष तुम्हार ॥
बिरह सहन को हम सिरजी हैं, पाहन हृदय हमार।
सूरदास अन्तरगति मोहन जीवन-प्रान-अधार ॥२१७॥

राग बिलावल

ऊधो ! कह मत दीन्हो हमहिं गोपाल ?
आवहु री सखि ! सब मिलि सोचैं ज्यों पावैं नँदलाल ॥
घर बाहर तें बोलि लेहु सब जावदेक ब्रजबाल ।
कमलासन बैठहु री माई ! मूँदहु नयन बिसाल ॥
षट्पद कही सोऊ करि देखी, हाथ कछू नहिं आई ।
सुन्दरस्याम कमलदललोचन नेकु न देत दिखाई ॥
फिरि भईं मगन बिरहसागर में काहुहि सुधि न रही ।
पूरन प्रेम देखि गोपिन को मधुकर मौन गही ॥
कहुं धुनि सुनि स्रवननि चातक की प्रान पलटि तब आए ।
सूर सु अबकै टेरि पपीहै बिरहिन मृतक जिवाए ॥२१८॥

ऊधो ! ते कि चतुर पद पावत ?
जे नहिं जानैं पीर पराई हैं सर्वज्ञ कहावत ॥
जो पै मीन नीर तें बिछुरै को करि जतन जियावत ?
प्यासे प्रान जात हैं जल बिनु सुधासमुद्र बतावत ॥
हम बिरहिनी स्यामसुन्दर की तुम निर्गुन नहिं जनावत ।
ये दृग-मधुप सुमन सब परिहरि कमलबदन-रस भावत ॥
कहि पठवत संदेसनि मधुकर ! कत बकवाद बढ़ावत ?
करो न कुटिल निठुर चित-अन्तर सूरदास कवि गावत ॥२१९॥

राग कल्याण

ऊधो ! भली करी अब आए ।
विधि-कुलाल कीने काँचे घट ते तुम आनि पकाए ॥
रंग दियो हो कान्ह साँवरे, अँग अँग चित्र बनाए ।
गलन न पाए नयन-नीर तें अवधि-अटा जो छाए ॥

ब्रज करि अँवाँ, जोग करि ईंधन सुरति-अगिनि सुलगाए।
फूँक उसास, बिरह परजारनि, दरसन-आस फिराए॥
भए सँपूरन भरे प्रेम-जल, छुवन न काहू पाए।
राजकाज तें गए सूर सुनि, नंदनंदन कर लाए॥२२०॥

राग मलार

ऊधो! कुलिस भई यह छाती।
मेरो मन रसिक लग्यो नँदलालहि, झखत रहत दिनराती॥
तजि ब्रजलोक, पिता अरु जननी, कंठ लाय गए काती।
ऐसे निठुर भए हरि हमको कबहुँ न पठई पाती॥
पिय पिय कहत रहत जिय मेरो है चातक की जाती।
सूरदास प्रभु प्रानहिं राखहु ह्वै कै बूँद-सवाती॥२२१॥

राग मारू

ऊधो! कहु मधुबन की रीति।
राजा ह्वै ब्रजनाथ तिहारे कहा चलावत नीति?
निसि लौं करत दाह दिनकर ज्यों हुतो सदा ससि सीति।
पुरवा पवन कह्यो नहिं मानत गए सहज बपु जीति॥
कुब्जा-काज कंस को मार्‍यो, भई निरंतर प्रीति।
सूर बिरह ब्रज भलो न लागत जहाँ ब्याह तहँ गीति॥२२२॥

ऊधो! काल-चाल चौरासी।
मन हरि मदनगोपाल हमारो बोलत बोल उदासी॥
एते पै हम जोग करहिं क्यों लै अबिगत अबिनासी।
गुप्त गोपाल करी बनलीला हम लूटी सुखरासी॥
लोचन उमगि चलत हरि के हित बिन देखे बरिसा सी।
रसना सूर स्याम के रस बिनु चातकहू तें प्यासी॥२२३॥

राग कान्हरो

ऊधो ! सरद समयहू आयो ।
वहुतै दिवस रटत चातक तकि तेउ स्वाति-जल पायो ॥
कबहुँक ध्यान धरत उर-अन्तर मुख मुरली लै गावत ।
सो रसरास पुलिन जमुना की ससि देखे सुधि आवत ॥
जासों लगन-प्रीति अन्तरगत औगुन गुन करि भावत ।
हमसों कपट, लोक-डर तातें सूर सनेह जनावत ॥२२४॥

राग सारंग

ऊधो ! कौन कुदिन छाँड़्यो हो गोकुल ।
बहुरि न आए फिरि या ब्रज में, बिछुर्‍यो तबहिं मिल्यो अब सो कुल ॥
गरग-बचन समुझे अब मधुबन-कथा-प्रसंग सुन्यो हो जो कुल ।
सूर भये अब त्रिभुवन के पति नातो ज्ञाति लहे अब निज कुल ॥२२५॥

ऊधो ! राखिए वह बात ।
कहत हौ अनहद सुबानी सुनत हम चपि जात ॥
जोग फल-कुष्मांड ऐसो अजामुख न समात ।
बारबार न भाखिए कोउ अमृत तजि बिष खात ?
नयन प्यासे रूप के, जल दए नाहिं अघात ।
सूर प्रभु मन हरि गए लै छाँड़ि तन-कुसलात[1] ॥२२६॥

ऊधो ! बात तिहारी जानी ।
आए हौ ब्रज को बिन काजहि, दहत हृदय कटु बानी ॥
जो पै स्याम रहत घट तौ कत बिरह-बिथा न परानी ?
झूठी बातनि क्यों मन मानत चलमति, अलप[2] गियानी[3] ॥

(१) कुसलात = कुशल, मंगल, । (२) अलप = थोड़ा ।
(३) गियानी = बुद्धिवाला ।

जोग-जुगुति की नीति अगम हम ब्रजबासिनि कह जाने ?
सिखवहु जाय जहाँ नटनागर रहत प्रेम लपटाने ॥
दासी घेरि रहे हरि, तुम ह्याँ गढ़ि गढ़ि कहत बनाई ।
निपट निलज्ज अजहुँ न चलत उठि, कहत सूर समुझाई ।।२२७।।

ऊधो ! राखति हौं पति तेरी ।
ह्याँ तें जाहु, दुर आगे तें देखत आँखि बरति हैं मेरी ॥
तुम जो कहत गोपाल सत्य है, देखहु जाय न कुब्जा घेरी ।
ते तौ तैसेई दोउ बने हैं, वै अहीर वह कँस की चेरी ॥
तुम सारिखे बसीठ पठाए, कहा कहौं उनकी मति फेरी ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन को ग्वालिनि कै सँग जोवति हेरी ॥२२८॥

राग नट

ऊधो ! बेदबचन परमान ।
कमल मुख पर नयन-खंजन देखिहैं क्यों आन ?
श्री-निकेत-समेत सब गुन, सकल-रूप-निधान ।
अधर-सुधा पिवाय बिछुरे पठै दीनो ज्ञान ॥
दूरि नहीं दयाल सब घट कहत एक समान ।
निकसि क्यों न गोपाल बोधत दुखिन के दुख जान ?
रूप-रेख न देखिए, बिन स्वाद सब्द भुलान ।
ईखदंडहि डारि हरिगुन, गहत पानि बिषान ॥
बीतराग सुजान जोगिन, भक्तजनन निवास ।
निगम-बानी मेटिकै क्यों कहै सूरजदास ? ॥२२६॥

राग सारंग

ऊधो ! अब चित भए कठोर ।
पूरब प्रीति बिसारी गिरिधर नवतन राचे और ॥

जा दिन तें मधुपुरी सिधारे धीरज रह्यो न मोर।
जन्म जन्म की दासी तुम्हरी नागर नंदकिसोर॥
चितवनि-बान लगाए मोहन निकसे उर वहि ओर[1]।
सूरदास प्रभु कबहिं मिलौगे, कहाँ रहे रनछोर? ॥२३०॥

ऊधो! अब नहिं स्याम हमारे।
मधुबन बसत बदलि से गे वे, माधव मधुप तिहारे॥
इतनिहि दूरि भए कछु औरै, जोय जोय मगु हारे।
कपटी कुटिल काक कोकिल ज्यों अन्त भए उड़ि न्यारे॥
रस लै भँवर जाय स्वारथ-हित प्रीतम चितहिं बिसारे।
सूरदास तिनसों कह कहिए जे तन हूँ मन कारे॥२३१॥

ऊधो! पा लागौं भले आए।
तुम देखे जनु माधव देखे, तुम त्रयताप नसाए॥
नँद जसोदा नातो टूटो बेद पुरानन गाए।
हम अहीरि, तुम अहिर नाम तजि निर्गुन नाम लखाए॥
तब यहि घोष खेल बहु खेले ऊखल भुजा बँधाए।
सूरदास प्रभु यहै सूल जिय बहुरि न चरन दिखाए॥२३२॥

ऊधो! निरगुन कहत हौ तुमहीं अब धौं लेहु।
सगुन मूरति नदनन्दन हमहिं आनि सु देहु॥
अगम पन्थ परम कठिन गवन तहाँ नाहिं।
सनकादिक भूलि परे अबला कहँ जाहिं?
पञ्चतत्त्व प्रकृति कहो अपर कैसे जानि?
मन बच क्रम कहत सूर बैरनि की बानि॥२३३॥

(१) वहि ओर = उस पार।

ऊधो ! और कछू कहिवे को ?
सोऊ कहि डारौ पा लागैं, हम सब सुनि सहिवे को॥
यह उपदेस आज लौं मैं, सखि, स्रवन सुन्यो नहिं देख्यो।
नीरस कटुक तपत जीवनगत, चाहत मन उर लेख्यो !
बसत स्याम निकसत न एक पल हिये मनोहर ऐन।
या[1] कहँ यहाँ ठौर नाहीं, लै राखौ जहाँ सुचैन॥
हम सब सखि गोपाल-उपासिनि हमसों बातैं छाँड़ि।
सुर मधुप ! लै राखु मधुपुरी कुबजा के घर गाड़ि॥२३४॥

राग आसावरी

ऊधो ! कहियो सबै सोहती।
जाहि ज्ञान सिखवन तुम आए सो कहौं ब्रज में कोय ती ?
अंतहु सीख सुनहुगे हमरी कहियत बात बिचारि।
फुरत[2] न बचन कछू कहिवे को, रहे प्रीति सों हारि॥
देखियत हौ करुना की मूरति, सुनियत हौ परपीरक[3]।*
सोय करौ ज्यों मिटै हृदय को दाह परै उर सीरक[4]॥
राजपंथ तें टारि बतावत उरझ कुबील कुपैंड़ो।
सूरजदास समाय कहाँ लौं अज के बदन कुम्हैड़ो[5] ?॥२३५॥

ऊधो ! तुमहुं सुनौ इक बात।
जो तुम करत सिखावन सो हमैं नाहिंन नेकु सुहात॥

---

(१) या कहँ = अर्थात् निर्गुण को। (२) फुरत = मुँह से निकलता है। (३) देखियत...परपीरक = देखने में तो बड़े दयालु जान पड़ते हो पर तुम्हारी बातें सुनने में बड़ी पीड़ा होती है। (४) सीरक = ठंढा। (५) कुम्हैड़ो = कुम्हड़ा।

* 'परपीरक' का अर्थ होता है 'दूसरे की पीड़ा समझनेवाला, पराई पीड़ा का अनुभव करनेवाला'।

ससि-दरसन बिनु मलिन कुमोदिनि ज्यों रवि बिनु जल जात।
त्यों हम कमलनयन बिन देखे तलफि तलफि मुरझात॥
घँसि चँदन घनसार सजे तन ते क्यों भस्म भरात?
रहे स्रवन मुरलीधर सों रत, सिंगी सुनत डरात॥
अबलनि आनि जोग उपदेसत नाहिंन नेकु लजात।
जिन पायो हरि परस सुधारस ते कैसे कटु खात?
अवधि-आस गनि गनि जीवति हैं, अब नहिं प्रान खटात[1]।
सूर स्याम हम निपट बिसारी ज्यों तरु जीरन पात॥२३६॥

राग कान्हरो

ऊधो! अँखियाँ अति अनुरागी।
इकटक मग जोवति अरु रोवति, भूलेहु पलक न लागी॥
बिन पावस पावस ऋतु आई देखत हौ बिदमान।
अब धौं कहा कियो चाहत हौ? छाँड़हु नीरस ज्ञान॥
सुनु प्रिय सखा स्यामसुन्दर के जानत सकल सुभाव।
जैसे मिलैं सूर प्रभु हमको सो कछु करहु उपाव॥२३७॥

ऊधो! कहत कही नहिं जाय।
मदनगोपाल लाल के बिछुरत प्रान रहे मुरझाय॥
अब स्यंदन चढ़ि गवन कियो इत फिरि चितयो गोपाल।
तबहीं परम कृतज्ञ सबै उठि सँग लगीं ब्रजबाल॥
अब यह औरै सृष्टि बिरह की बकति वाय-बौरानो।
तिनसों कहा देत फिरि उत्तर? तुम हौ पूरन ज्ञानी॥
अब सो मान घटै, का कीजै? ज्यों उपजै परतीति।
सूरदास कछु बरनि न आवै कठिन बिरह की रीति॥२३८॥

(१) खटात = ठहरता है।

राग बिहागरो

ऊधो ! यह मन अधिक कठोर ।
निकसि न गयो कुँभ काँचे ज्यों बिछुरत नँदकिसोर ।।
हम कछु प्रीति-रीति नहिं जानी तब ब्रजनाथ तजी ।
हमरे प्रेम न उनको, ऊधो ! सब रस-रीति लजी ।।
हमतें भली जलचरी बपुरी अपनो नेम निबाहैं ।
जल तें बिछुरत ही तन त्यागैं जल ही जल को चाहैं ।
अचरज एक भयो सुनो, ऊधो ! जल बिनु मीन जियो ।
सूरदास प्रभु आवन कहि गए मन बिस्वास कियो ।।२

ऊधो ! होत कहा समुझाए ?
चित चुभि रही साँवरी मूरति, जोग कहा तुम लाए ?
पा लागौं कहियो हरिजू सों दरस देहु इक बेर ।
सूरदास प्रभु सों बिनती करि यहै सुनैयो टेर ।।२

ऊधो ! हमैं जोग नहिं भावै ।
चित में बसत स्यामघन सुन्दर, सो कैसे बिसरावै ?
तुम जो कही सत्य सब बातें, हमरे लेखे धूरि ।
या घट-भीतर सगुन निरँतर रहे स्याम भरि पूरि ।।
पा लागौं कहियो मोहन सों जोग कूबरी दीजै ।
सूरदास प्रभु-रूप निहारैं हमरे संमुख कीजै ।।२४१।।

ऊधो ! हम न जोगपद साधे ।
सुन्दरस्याम सलोनो गिरिधर नँदनँदन आराधे ।।
जा तन रचि रचि भूषन पहिरे भाँति भाँति के साज ।
ता तन को कहै भस्म चढ़ावन, आवत नाहिंन लाज ।।
घट-भीतर नित बसत साँवरो मोरमुकुट सिर धारे ।
सूरदास चित तिन सों लाग्यो, जोगहिं कौन सँभारे ? ।।२४२।।

राग सारंग

ऊधो ! कहियो यह संदेस ।
लोग कहत कुब्जा-रस-माते, तातें तुम सकुचौ जनि लेस ॥
कबहुँक इत पग धारि सिधारौ धरि हरिखँड सुबेस ।
हमरो मनरंजन कीन्हें तें ह्वैहौ भुवननरेस ॥
जब तुम इत ठहराय रहौगे देखौगे सब देस ।
नहिं बैकुण्ठ अखिल ब्रह्माँडहि ब्रज बिनु[1], हे हृषिकेस[2] !
यह किन मंत्र दियो नंदनँदन तजि ब्रज भ्रमन-बिदेस ?
जसुमति जननी प्रिया राधिका देखे औरहि देस ?
इतनी कहत कहत स्यामा पै कछु न रह्यो अवसेस ।
मोहनलाल प्रबाल मृदुलमन ततछन करी सुहेस ॥
को ऊधो, को दुसह बिरह-जुर[3], को नृपनगर-सुरेस ?
कैसो ज्ञान, कह्यो किन कासों, किन पठयो उपदेस ?
मुख मृदुछबि मुरली-रव पूरित गोरज-कर्बुर केस[4] ।
नट-नाटकगति बिकट लटक जब बन तें कियो प्रवेस ॥
अति आतुर अकुलाय धाय पिय पोंछत नैन कुसेस[5] ।
कुम्हिलानो मुखपद्म परस करि देखत छबिहि बिसेस ॥
सूर सोम, सनकादि, इंद्र, अज, सारद, निगम, महेस ।
नित्यबिहार सकल रस भ्रमगति कहि गावहिं मुख सेस ॥२४२॥

राग आसावरी

ऊधो ! हरिजू हित जनाय चित चोराय लयो ।
ऊधो ! चपल नयन चलाय अंगराग दयो ॥

---

(१) बिनु = अतिरिक्त, सिवाय, छोड़कर । (२) हृषिकेस = विष्णु । (३) जुर = ज्वर, ताप, । (४) गोरज कर्बुर केस = गायों के खुर पड़ने से उठी हुई धूल लगने के कारण धूमले बाल । (५) कुसेस = कुशेशय, कमल ।

परम साधु सखा सुजन जदुकुल के मानि।
कहौ बात प्रात एक साँची जिय जानि॥
सरद-बारिज सरिस दृग भौंह काम-कमान।
क्यों जीवहिं बेधे उर लगे बिषम बान?
मोहन मथुरा पै बसैं, ब्रज पठयो जोगसँदेस।
क्यों न काँपी मेदिनी कहत जुवतिन ऊपदेस?
तुम सयाने स्याम के देखहु जिय बिचारि।
प्रीतम पति नृपति भए औ गहे वर नारि॥
कोमल कर मधुर मुरलि अधर धरे तान।
पसरि सुधा पूरि रही कहा सुनै कान?
मृगी मृगज[1]-लोचनी भए उभय एक प्रकार।
नाद नयनबिष-तते[2] न जान्यो मारनहार॥
गोधन तजि गवन कियो लियो बिरद गोपाल।
नीके कै कहिबी[3], यह भली निगम-चाल॥२४४॥

मधुकर! जानत है सब कोऊ।
जैसे तुम औ मीत तुम्हारे, गुननि निपुन हौ दोऊ॥
पाके चोर, हृदय के कपटी, तुम कारे औ वोऊ।
सरबसु हरत, करत अपनो सुख, कैसेहू किन होऊ॥
परम कृपन थोरे धन जीवन उबरत नाहिंन सोऊ।
सूर सनेह करै जो तुमसों सो करै आप-बिगोऊ[4]॥२४५॥

मधुकर! कहियत बहुत सयाने।
तुम्हरी मति कापै बनि आवै हमरे काज अजाने॥

(१) मृगज=हिरन का बच्चा। (२) तते=तपे हुए। (३) कहिबी=कहना। (४) बिगोऊ=नाश, खराबी।

तैसोई तू; तैसो तेरो ठाकुर, एकहि बरनहि बाने।
पहिले प्रीति पिवाय सुधारस पाछे जोग बखाने॥
एक समय पंकजरस बासे दिनकर अस्त न माने।
सोइ सूर गति भइ ह्याँ हरि बिनु हाथ मीड़ि पछिताने॥२४६॥

मधुकर! कहत सँदेसो सूलहु[१]।
हरिपद छाँड़ि चले तातें तुम प्रीतिप्रेम भ्रमि भूलहु॥
नहिं या उक्ति मृदुल श्रीमुख की जे तुम उर में हूलहु[२]।
बिलज न बदन होत या उचरत जो संधान न मूलहु[३]॥
उत बड़ ठौर नगर मथुरा, इत तरनितनूजा[४] कूलहु।
उत महराज चतुर्भुज सुमिरौ, इत किसोरनँद दूलहु॥
जे तुम कही बड़ेन की बतियाँ ब्रज जन नहिं समतूलहु।
सूर स्याम गोपी-सँग बिलसे कंठ धरे भुजमूलहु॥२४७॥

राग सोरठ

मधुकर! यहाँ नहीं मन मेरो।
गयो जो सँग नंदनंदन के बहुरि न कीन्हो फेरो॥
लयो नयन मुसकानि मोल है, कियो परायो चेरो।
सौंप्यो जाहि भयो बस ताके, बिसर्‌यो बास-बसेरो॥
को समुझाय कहै सूरज जो रसबस काहू केरो?
मँदे पर्‌यो, सिधारू अनत लै, यह निर्गुन मत तेरो॥२४८॥

मधुकर! हमहीं कौ समझावत।
बारंवार ज्ञानगाथा ब्रज अबलन आगे गावत॥

---

(१) सूलहु = शूल उत्पन्न करते हो। (२) हूलहु = चुभाते हो। (३) जो संधान न मूलहु = यदि कृष्ण के कहे मूल बचन में मिलावट न होती। (४) तरनितनूजा = सूर्य की कन्या, यमुना।

नँदनँदन बिन कपट कथा कहि कत अनरुचि उपजावत ?
स्रक[1] चंदन तन में जो सुधारत कहु कैसे सचु पावत ?
देखु बिचारि तुहीं अपने जिय नागर है जु कहावत ?
सब सुमनन फिरि फिरि नीरस करि काहे को कमल बँधावत ?
कमलनयन करकमल कमलपग कमलबदन बिरमावत।
सूरदास प्रभु अलि अनुरागी काहे को और भुकावत[2] ? ॥२४९॥

राग धनाश्री

को गोपाल कहाँ को बासी, कासों है पहिंचान ?
तुमसों सँदेसो कौन पठाए, कहत कौन सों आनि ?
अपनो चाँड़ आनि उड़ि बैठ्यो भँवर भलो रस जानि।
कै वह बेलि बढ़ौ कै सूखौ, तिनको कह हितहानि॥
प्रथम बेनु बन हरत हरिन-मन राग-रागिनी ठानि।
जैसे बधिक बिसासि बिबस करि बधत बिषम सर तानि॥
पय प्यावत पूतना हनी, छपि बालि हन्यो, बलि दानि।
सूपनखा, ताड़का निपाती सूर स्याम यह बानि॥२५०॥

मधुकर के पठए तें तुम्हरी व्यापक[3] न्यून परी।
नगरनारि[4]-मुखछबि-तन निरखत द्वै बतियाँ बिसरीं॥
ब्रज को नेह, अरु आप पूर्नता एकौ ना उबरी।
तीजो पंथ प्रगट भयो देखियत जब भेंटी कुबरी॥
यह तौ परम साधु तुम डहक्यो, इन यह मन न धरी।
जो कछु कह्यो सुनि चल्यो सीस धरि जोग-जुगुति-गठरी॥

---

(१) स्रक=माला। (२) भुकावत=भुकाता है, बकवाद करता है। (३) व्यापक=व्यापकता। (४) नगरनारि=मथुरा की नागरी स्त्रियों की।

सूरदास प्रभुता का कहिए प्रीति भली पसरी !
राजमान सुख रहै कोटि पै घोष न एक घरी ॥२५१॥

राग आसावरी

मधुकर ! बादि[1] बचन कत बोलत ?
तनक न तोहिं पत्याऊँ, कपटी अंतर-कपट न खोलत ॥
तू अति चपल अलप[2] को सगी बिकल चहूँ दिसि डोलत ।
मानिक काँच, कपूर कटु खली, एक संग क्यों तोलत ?
सूरदास यह रटत बियोगिनि दुसह दाह क्यों झोलत[3] ।
अमृतरूप आनन्द अँगनिधि अनमिल अगम अमोलत ॥२५२॥

राग केदारो

मधुकर ! देखि स्याम तन तेरो ।
हरि-मुख की सुनि मीठी बातैं डरपत है मन मेरो ॥
कहत हौं चरन छुवन रसलंपट, बरजत हौ बेकाज ।
परसत गात लगावत कुंकुम, इतनी में कछु लाज ?
बुधि बिवेक अरु बचन-चातुरी ते सब चितै चुराए ।
सो उनको कहो कहा बिसार्यो, लाज छाँड़ि ब्रज आए ॥
अब लौं कौन हेतु गावत है हम आगे यह गीत ।
सूर इते सों गारि[4] कहा है जौ पै त्रिगुन अतीत ? ॥२५३॥

मधुकर काके मीत भए ?
दिवस चारि की प्रीति-सगाई सो लै अनत गए ॥
डहकत फिरत आपने स्वारथ पाखँड और ठए ।
चाँड़ै सरे[5] चिन्हारी मेटी, करत हैं प्रीति न ए ॥

---

(१) बादि = व्यर्थ । (२) अलप = ओछा । (३) झोलत = जलाता है । (४) गारि = बुराई । (५) चाँड़ै सरे = मन की हौस निकल जाने पर, अपनी इच्छा पूरी हो जाने पर ।

चितहि उचाटि मेलि गए रावल[1] मन हरि हरि जु लए।
सूरदास प्रभु दूत-धरम तजि बिष के बीज बए ॥२५४॥

मधुकर ! कहाँ पढ़ी यह नीति ?
लोकवेद स्रुति-ग्रंथ-रहित सब कथा कहत बिपरीत ॥
जन्मभूमि ब्रज, जननि जसोदा केहि अपराध तजी ?
अति कुलीन गुन रूप अमित सब दासी जाय भजी[2] ॥
जोगसमाधि गूढ़ स्रुति मुनिमग क्यों समुझिहै गँवारि।
जौ पै गुन-अतीत व्यापक तौ होहिं, कहा है गारि ?
रहु रे मधुप ! कपट स्वारथ हित तजि बहु बचन बिसेखि।
मन क्रम बचन बचत यहि नाते सूर स्याम-तन देखि ॥२५५॥

मधुकर ! होहु यहाँ तें न्यारे।
तुम देखत तन अधिक तपत है अरु नयनन के तारे ॥
अपनो जोग सैंति[3] धरि राखौ, यहाँ लेत को, डारे ?
तोरे हित अपने मुख करिहैं मीठे तें नहिं खारे ॥
हमरे गिरिवरधर के नाम गुन बसे कान्ह उर बारे।
सूरदास हम सबै एकमत, तुम सब खोटे कारे ॥२५६॥

राग नट

मधुप ! बिराने लोग बटाऊ[4]।
दिन दस रहत काज अपने को तजि गए फिरे न काऊ[5] ॥
प्रथम सिद्धि पठई हरि हमको, आयौ ज्ञान अगाऊ।
हमको जोग, भोग कुब्जा को, वाको यहै सुभाऊ ॥

---

(१) रावल = महल, राजभवन। (२) भजी = अंगीकार की।
(३) सैंति = सहेजकर। (४) बटाऊ = पथिक। (५) काऊ = कभी।

कीजै कहा नंदनन्दन को जिनके है सतभाऊ।
सूरदास प्रभु तन मन अरप्यो प्रान रहैं कै जाऊ ॥२५७॥

राग सारंग

मधुकर ! महाप्रवीन सयाने।
जानत तीन लोक की बातैं अबलन काज अयाने ॥
जे कच कनक-कचोरा भरि भरि मेलत तेल-फुलेल।
तिन केसन को भस्म बतावत, टेसू[1] कैसो खेल ॥
जिन केसन कबरी[2] गहि सुन्दर अपने हाथ बनाई ॥
तिनको जटा धरन को, ऊधो कैसे कै कहि आई ?
जिन स्रवनन ताटंक, खुभी अरु करनफूल खुटिलाऊ।
तिन स्रवनन कसमीरी[3] मुद्रा लटकन, चीर झलाऊ[4] ॥
भाल तिलक, काजर चख, नासा नकवेसरि, नथ फूली।
ते सब तजि हमरे मेलन को उज्वल भस्मी खूली[5] ॥
कंठ सुमाल, हार मनि, मुक्ता, हीरा, रतन अपार।
ताही कंठ बाँधिबे के हित सिंगी जोगसिंगार ॥
जिहि मुख मीत सुभाखत गावत करत परस्पर हास।
ता मुख मौन गहे क्यों जीवैं, घूटैं ऊरध स्वास ?
कंचुकि छीन, उबटि घसि चन्दन, सारी सारस चन्द।
अब कँथा[6] एकै अति गूदर क्यों पहिरैं, मतिमन्द ?

---

(१) टेसू = लड़कों का एक उत्सव जो दसहरे के दिन होता है और जिसमें वे एक घास का पुतला लेकर गाते हुए निकलते हैं। (२) कबरी = वेणी, चोटी। (३) कसमीरी = स्फटिक की। (४) झलाऊ = झोलझाल। (५) खूली = खोली, थैली। (६) कंथा = योगियों की गुदड़ी।

ऊधो, उठो सबै पाँ लागैं, देख्यो ज्ञान तुम्हारो।
सूरदास मुख बहुरि देखिहैं जीजौ कान्ह हमारो ॥२५८॥

मधुकर ! कौन देस तें आए ?
जब तें क्रूर गयो लै मोहन तब तें भेद न पाए॥
जाने सखा साधु हरिजू के अवधि वदन को आए।
अब या भाग, नन्दनन्दन को या स्वामित[1] को पाए॥
आसन, ध्यान, वायु-अवरोधन, अलि, तन मन अति भाए।
है बिचित्र अति, गुनत सुलच्छन गुनी जोगमत गाए॥
मुद्रा, सिंगी, भस्म, त्वचा मृग, ब्रजजुवती-तन ताए।
अतसी[2] कुसुमबरन मुख मुरली सूर स्याम किन लाए ? ॥२५९॥

मधुकर ! कान्ह कही नहिं होहीं।
यह तौ नई सखी सिखई है निज अनुराग बरोही[3]॥
सँचि राखी कूबरी-पीठि पै ये बातैं चकचोही[4]।
स्याम सुगाहक पाय, सखी री, छार दिखायो मोही॥
नागरमनि जे सोभा-सागर जग जुवती हँसि मोही।
लियो रूप[5] है ज्ञान ठगौरी, भलो ठग्यो ठग वोही।
है निर्गुन सरवरि कुबरी अब घटो करी हम जोही॥
सूर सो नागरि जोग दीन जिन तिनहिं आज सब सोही ॥२६०॥

राग सोरठ

मधुकर ! अब धौं कहा कह्यो चाहत ?
ये सब भई चित्र की पुतरी सून्य सरीरहिं दाहत॥

---

(१) स्वामित = प्रभुता। (२) अतसी = अलसी, तीसी। (३) बरोही = बल से। (४) चकचोही = चुहल की। (५) लियो रूप = रूप ले लिया, निराकार कर दिया, बदले में ठगकर ज्ञान दे दिया।

हमसों तोसों बैर कहा, अलि, स्याम अजान ज्यों राहत।
झारि झूरि मन तो हरि लै गए बहुरि पयारहिं गाहत॥
अब तौ तोहिं मरुत को गहिबो कह स्रम करि तू लैहै?
सूरज कोट-मध्य तू ह्वै रह, अपनो कियो तू पैहै॥२६१॥

राग सारंग

मधुकर! आवत यहै परेखो।
जब वारे तब आस बड़े की, बड़े भए सो देखो!
जोग-जज्ञ, तप, दान, नेम-व्रत करत रहे पितु-मात।
क्यों हूँ सुत जो बढ्यो कुसल सों, कठिन मोह की बात॥
करनी प्रगट प्रीति पिक-कीरति अपने काज लौं भीर।
काज सर्‍यो दुख गयो कहाँ धौं, कहँ बायस को वीर॥
जहँ जहँ रहौ राज करौ तहँ तहँ लेव कोटि सिर भार।
यह असीस हम देति सूर सुनु न्हात खसै जनि बार॥२६२॥

मधुकर! प्रीति किए पछितानी।
हम जानी ऐसी निबहैगी उन कछु औरै ठानी॥
कारे तन को कौन पत्यानो? बोलत मधुरी बानी।
हमको लिखि लिखि जोग पठावत आपु करत रजधानी।
सूनो सेज स्याम बिनु मोको तलफत रैनि बिहानी।
सूर स्याम प्रभु मिलिकै बिछुरे तातें मति जु हिरानी॥२६३॥

---

(१) पयार=पयाल, अनाज के पौधों के सूखे डंठल। (२) गाहना=डंडे से उलट पलटकर झाँड़ना। (३) खसै=टूटकर गिरे।

राग मारू

मधुकर की संगति तें जनियत बंस अपन चितयो[1]।
बिन समझे कह चहति सुन्दरी सोई मुख-कमल गह्यो ॥
व्याधनाद कह जानै हरिनी करसायल की नारि ?
आलापहु, गावहु, कै नाचहु दावँ परे लै मारि ॥
जुआ कियो ब्रजमंडल यह हरि जीति अबिधि सों खेलि।
हाथ परी सो गही चपल तिय, रखी सदन में हेलि[2] ॥
ऊनो[3] कर्म कियो मातुलै[4] बधि मदिरा-मत्त प्रमाद।
सूर स्याम एते औगुन में निर्गुन तें अति स्वाद ॥२६४॥

राग सोरठ

मधुकर ! चलु आगे तें दूर।
जोग सिखावन को हमैं आयो बड़ो निपट तू क्रूर ॥
जा घट रहत स्यामघन सुन्दर सदा निरन्तर पूर।
ताहि छाँड़ि क्यों सून्य अराधैं, खोवैं अपनो सूर[5] ?
ब्रज में सब गोपाल-उपासी, कोउ न लगावै धूर।
अपनो नेम सदा जो निबाहै सोई कहावै सूर ॥२६५॥

मधुकर ! सुनहु लोचन-बात।
बहुत रोके अंग सब पै नयन उड़ि उड़ि जात ॥
ज्यों कपोत बियोग-आतुर भ्रमत है तजि धाम।
जात दृग त्यों, फिरि न आवत बिना दरसे स्याम ॥

---

(१) बंस अपन चितयो = अपना वंश ताका, अपने कुल में गए। (२) सदन...हेलि = घर में डाल रखी। (३) ऊनो = ओछा, खोटा। (४) मातुल = मामा (कंस)। (५) मूर = पूँजी, मूलधन।

रहे मूँदि कपाट पल[1] दोउ, भए घूँघट-ओट।
स्वास काढ़ि तौ जात तितही निकसि मन्मथ फोट[2] ॥
स्रवन सुनि जस रहत हरि को, मन रहत धरि ध्यान।
रहत रसना नाम रटि, पै इनहिं दरसन हान[3] ॥
करत देह बिभाग भोगहिं, जो कछू सब लेत[4]।
सूर दरसन हीं बिना यह पलक चैन न देत ॥२६६॥

राग गौरी

मधुकर ! जो हरि कही करैं।
राजकाज चित दयो साँवरे, गोकुल क्यों बिसरैं ?
जब लौं घोष रहे हम तब लौं संतत सेवा कीन्ही ?
बारक कहे उलूखल बाँधे, वहै कान्ह जिय लीन्ही ॥
जौ पै कोटि करैं ब्रजनायक बहुतै राजकुमारी।
तौ ये नंद पिता कहँ मिलिहैं अरु जसुमति महतारी ?
गोबर्द्धन कहँ गोपबृन्द सब, कहँ गोरस सद[5] पैहो ?
सूरदास अब सोई करिए बहुरि हरिहि लै ऐहो ॥२६७॥

राग बिलावल

मधुकर ! भल आए बलवीर।
दुर्लभ दरसन सुलभ पाए जान क्यों परपीर ?
कहत वचन, बिचारि बिनवहिं सोधियो उन पाहिं।
प्रानपति की प्रीति, ऊधो ! है कि हम सों नाहिं ?

---

(१) पल = पलक। (२) फोट = उद्गार। (३) हान = हानि।
(४) करत देह बिभाग......लेत = जो कुछ एक अंग प्राप्त करता है उसका सुख सारे अंग बाँट लेते हैं। (५) सद = ताजा।

कौन तुम सों कहैं, मधुकर! कहन जोगै नाहिं।
प्रीति की कछु रीति न्यारी जानिहौ मन माहिं।
नयन नींद न परै निसिदिन बिरह बाढ्यो देह।
कठिन निर्दय नंद के सुत जोरि तोर्‍यो नेह॥
कहा तुम सों कहैं, षटपद[1]! हृदय गुप्त कि बात।
सूर के प्रभु क्यों बनैं जो करैं अबला घात?।२६८॥

मधुकर! यह कारे की रीति।
मन दै हरत परायो सर्वस करै कपट की प्रीति।
ज्यों षटपद अम्बुज के दल में बसत निसा रति मानी।
दिनकर उए अनत उड़ि बैठैं फिर न करत पहिचानि॥
भवन भुजंग पिटारे पाल्यो ज्यों जननी जनि तात।
कुल-करतूति जाति नहिं कबहूं सहज सो डसि भजि जात॥
कोकिल काग कुरंग स्याम की छन छन सुरति करावत।
सूरदास, प्रभु को मुख देख्यो निसदिन ही मोहिं भावत॥२६९॥

राग सोरठ

मधुप! तुम कहा यहै गुन गावहु।
यह प्रिय कथा नगर-नारिन सों कहौ जहाँ कछु पावहु।
जानत मरम नंदनंदन को, और प्रसंग चलावहु।
हम नाहीं कमलिनि-सी भोरी करि चतुरई मनावहु॥
जनि परसौ अलि! चरन हमारे बिरह-ताप उपजावहु।
हम नाहीं कुबिजा-सी भोरी, करि चातुरी दिखावहु॥
अति विचित्र लरिका की नाईं गुरु दिखाय बहरावहु।
सूरदास प्रभु नागरमनि सों कोउ बिधि आनि मिलावहु॥२७०॥

---

(१) षटपद = भौंरा।

राग केदारो

मधुकर! पीत बदन[1] किहि हेत?
जनु अन्तरमुख पांडु रोग भयो जुवतिन जो दुख देत ॥
रसमय तन मन स्याम-धाम सो ज्यों उजरो संकेत[2]।
कमलनयन के वचन सुधा से करट[3] घूँट भरि लेत ॥
कुत्सित कटु बायस सायक सो अब बोलत रसखेत?
इन चतुरी तें लोग बापुरे कहत धर्म को सेत[4] ॥
माथे परौ जोगपथ तिनके वक्ता छपद समेत।
लोचन ललित कटाच्छ मोच्छ बिनु महि में जिएँ निचेत ॥
मनसा बाचा और कर्मना स्यामसुन्दर सों हेत।
सूरदास मन की सब जानत हमरे मनहिं जितेत[5] ॥२७१॥

मधुकर! मधुमदमातो डोलत।
जिय उपजत सोइ कहत न लाजत सूधे बोल न बोलत ॥
बकत फिरत मदिरा के लीन्हें बारबार तन घूमत।
व्रीडारहित[6] सबन अवलोकत लता-कली-मुख चूमत ॥
अपनेहूँ मन की सुधि नाहीं पर्‍यो आन ही कोठो[7] ॥
सावधान करि लेहि अपनपौ तब हम सों करु गोठो[8]।
मुख लागी है पराग पीक की, डारत नाहिंन धोई।
ताँसों कह कहिए सुनु, सूरज, लाज डारि सब खोई ॥२७२॥

---

(१) पीत बदन = भौंरे के सिर पर पीला चिह्न होता है। (२) संकेत = मिलने का स्थान। (३) करट = कौआ। (४) धर्म को सेत = धर्म को पार लगानेवाले, सेतु, पुल। (५) जितेत = जितना। (६) व्रीडा = लज्जा। (७) पर्‍यो ····कोठो = मन और ही कोठे में है अर्थात् भ्रांत है। (८) गोठो = गोष्ठी, सलाह।

मधुकर ! ये सुनु तन मन कारे ।
कहूं न सेत सिद्धताई तन परसे हैं अँग कारे ॥
कीन्हो कपट कुंभ विषपूरन पयमुख प्रगट उघारे ।
बाहिर वेष मनोहर दरसत, अन्तरगत जु ठगारे ॥
अब तुम चले ज्ञान-बिष दै हरन जु प्रान हमारे ।
ते क्यों भले होहिं सूरजप्रभु रूप, बचन, कृत कारे ॥२७३॥

राग सारंग

मधुकर ! तुम रसलंपट लोग ।
कमलकोस में रहत्र निरंतर हमहिं सिखावत जोग ।
अपने काज फिरत ब्रज-अंतर निमिष नहीं अकुलात ।
पुहुए गए बहुरै बेलिन के नेकु न नेरे जात ॥
तुम चंचल हौ, चोर सकल अँग बातन क्यों पतियात ?
सूर बिधाता धन्य रच्यो जो मधुप स्याम इकगात ॥२७४॥

मधुकर ! कासों कहि समझाऊँ ?
अंग अंग गुन गहे स्याम के, निर्गुन काहि गहाऊँ ?
कुटिल कटाच्छ बिकट सायक सम, लागत मरम न जाने ।
मरम गए उर फोरि पिछौं हैं पाछे पै अहटाने[1] ॥
घूमत रहत सँभारत नाहिंन, फेरि फेरि समुहाने ।
टूक टूक है रहे ढोर[2] गहि पाछे पग न पराने ॥
उठत कबंध जुद्ध जोधा ज्यों बाढ़त संमुख हेत ।
सूर स्याम अब अमृत-बृष्टि करि सींचि प्रान किन देत ?२७५॥

---

(१) पाछे पै अहटाने = पीछे से उनकी आहट मिली । (२) ढोर गहि रहे = संग में लग रहे ।

मधुप ! तुम देखियत हौ चित कारे।
कालिंदीतट पार बसत हौ, सुनियत स्याम-सखा रे !
मधुकर, चिहुर, भुजंग, कोकिला अवधिन हीं दिन टारे।
वै अपने सुख ही के राजा तजियत यह अनुहारे॥
कपटी कुटिल निठुर हरि मोहीं दुख दै दूरि सिधारे।
बारक बहुरि कबै आवैंगे नयनन साध निबारे॥
उनकी सुनै सो आप बिगोवै चित चोरत बटमारे।
सूरदास प्रभु क्यों मन मानै सेवक करत निनारे[1] ॥२७६॥

मधुकर ! को मधुबनहिं गयो ?
काके कहे सँदेस लै आए, किन लिखि लेखु दयो ?
को बसुदेव-देवकीनंदन, को जदुकुलहि उजागर ?
तिनसों नहिं पहिचान हमारी, फिरि लै दीजो कागर॥
गोपीनाथ, राधिकाबल्लभ, जसुमति नँद कन्हाई।
दिन प्रति दान लेत गोकुल में नूतन रीति चलाई॥
तुम तौ परम सयाने ऊधो ! कहत और की औरै।
सूरजदास पंथ के बहँके बोलत हौ ज्यों बौरे॥२७७॥

राग सारंग

देखियत कालिंदी अति कारी।
कहियो, पथिक ! जाय हरि सों ज्यों भई बिरह-जुर[2]-जारी॥
मनो पलिका[3] पै परी धरनि धँसि तरँग तलफ तनु भारी[4]।

---

(१) निनारे = अलग। (२) जुर = ज्वर, ताप। (३) पलिका = पलंग। (४) तरँग·········भारी = तरंग उठना मानों शरीर का तड़फड़ाना है।

तटबारू उपचार-चूर[1] मनो, स्वेद-प्रवाह पनारी[2] ॥
बिगलित कच कुस कास[3] पुलिन मनो, पंक जु कज्जल सारी।
भ्रमर मनो मति भ्रमत चहूं दिसि, फिरति है अंग दुखारी ॥
निसिदिन चकई-व्याज बकत मुख किन मानहुँ अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना-गति सो गति भई हमारी ॥२

सुनियत मुरली देखि लजात।
दूरहि तें सिंहासन बैठे, सीस नाय मुसकात ॥
सुरभी लिखी चित्र भीतिन पर तिनहिं देखि सकुचात।
मोरपंख को बिजन[4] बिलोकत बहरावत कहि बात ॥
हमरी चरचा जो कोउ चालत, चालत ही चपि[5] जात।
सूरदास ब्रज भले बिसार्‌यो, दूध दही क्यों खात ? ॥२७६॥

राग मलार

किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि ?
किधौं वहि इंद्र हठिहि हरि बरज्यौ, दादुर खाए सेसनि[6]।
किधौं वहि देस बकन मग छाँड्यो, धर[7] बूड़ति न प्रबेसनि।
किधौं वहि देस मोर, चातक, पिक बधिकन बधे बिसेषनि ॥
किधौं वहि देस बाल नहिं झूलति गावत गीत सहेसनि[8]।
पथिक न चलत सूर के प्रभु पै जासों कहौं सँदेसनि ॥२८

(१) उपचार-चूर = औषध का चूर्ण। (२) पनारी = धारा, बहाव। (३) तट के कुस कास = मानों बिखरे हुए केश हैं। (४) बिजन = बीजन, पंखा। (५) चपि जात = दब जाते हैं। (६) सेसनि = साँपों ने। (७) धर = धरा, पृथ्वी। (८) सहेसनि = सहर्ष।

कोउ सखि नई चाह[1] सुनि आई।
यह ब्रजभूमि सकल सुरपति पै[2] मदन मिलिक[3] करि पाई ॥
घन धावन, बगपाँति पटो[4] सिर, बैरख[5] तड़ित सुहाई ॥
बोलत पिक चातक ऊँचे सुर, मनो मिलि देत दुहाई।
दादुर मोर चकोर बदत सुक सुमन समीर सुहाई ॥
चाहत कियो बास वृंदाबन, बिधि सों कहा बसाई ?
सीवँ[6] न चापि सक्यो तब कोऊ, हुते बल कुँवर कन्हाई।
अब सुनि सूर स्याम केहरि बिनु ये करिहैं ठकुराई* ॥२८१॥

बरु ये बदराऊ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि, नँदनंदन ! गरजि गगन घन छाए ॥
सुनियत है सुरलोक बसत सखि, सेवक सदा पराए[7]।
चातक-कुल की पीर जानि कै तेउ तहाँ तें धाए ॥
द्रुम किए हरित, हरषि बेली मिलि, दादुर मृतक जिवाए।
छाए निबिड़ नीर तृन जहँ तहँ पँछिन हूँ प्रति भाए ॥
समझति नहिं सखि ! चूक आपनी बहुतै दिन हरि लाए।
सूरदास स्वामी करुनामय मधुवन बसि बिसराए ॥२८२॥

परम बियोगिनि गोविंद बिनु कैसे बितवैं दिन सावन के ?
हरित भूमि, भरे सलिल सरोवर, मिटे मग मोहन आवन के ॥

---

(१) चाह = खबर। (२. पै = से। (३) मिलिक = मिलकियत, जागीर। (४) पटो = पट, पगड़ी। (५) बैरख = पताका, झंडा। (६) सीवँ = सीमा, हद। सीवँ न चापि सक्यो = हद पर पैर न रख सकता था। (७) पराए = दूसरे के अर्थात् इंद्र के।

* यह पद तुलसी की 'श्रीकृष्ण-गीतावली' में भी है।

पहिरे सुहाए सुबास सुहागिनि झुंडन झूलन गावन के।
गरजत घुमरि घमंड दामिनी मदन धनुष धरि धावन के॥
दादुर मोर सोर सारँग पिक सोहैं निसा सूरमा वन के।
सूरदास निसि कैसे निघटत त्रिगुन किए सिर रावन के[1] ॥२८

हमारे माई! मोरउ बैर परे।
घन गरजे बरजे नहिं मानत त्यों त्यों रटत खरे।
करि एक ठौर बीनि इनके पंख मोहन सीस धरे।
याही तें हम ही को मारत, हरि ही ढीठ करे॥
कह जानिए कौन गुन, सखि री! हम सों रहत अरे।
सूरदास परदेस बसत हरि, ये बन तें न टरे॥२८

राग आसावरी

सखी री! हरिहि दोष जनि देहु।
जातें इते सान दुख पैयत हमरेहि कपट सनेहु॥
विद्यमान अपने इन नैनन्ह सूनो देखति गेहु।
तदपि सूल-ब्रजनाथ-बिरह तें भिदि न होत बड़ बेहु[2]॥
कहि कहि कथा पुरातन ऊधो! अब तुम अंत न लेहु।
सूरदास तन तो यों ह्वै है ज्यों फिरि फागुन मेहु[3] ॥२८५॥

उघरि आयो परदेसी को नेहु।
तब तुम 'कान्ह कान्ह' कहि टेरति फूलति ही[4], अब लेहु[5]॥

---

(१) त्रिगुन···रावन के = रावण के सिर के तिगुने अर्थात् तीस (रातभर में तीस घड़ियाँ होती हैं)। (२) बेहु = बेध, छेद। (३) फागुन मेहु = जलरहित, जीवनरहित। (४) फूलति ही = मन में फूलती थी। अब लेहु = अब परिणाम देखो।

काहे को तुम सर्वस अपनो हाथ पराए देहु।
उन जो महा ठग मथुरा छाँड़ी, सिंधुतीर कियो गेहु॥
अब तौ तपन महा तन उपजी, बाढ्यो मन संदेहु।
सूरदास बिह्वल भईं गोपी, नयनन्ह बरस्यो मेहु॥२८६॥

राग टोडी

हरि न मिले, री माई! जन्म ऐसे ही लाग्यो जान।
जोवत मग द्यौस द्यौस बीतत जुग-समान॥
चातक-पिक-बयन सखी! सुनि न परै कान।
चंदन अरु चंदकिरन कोटि मनो भानु॥
जुवती सजे भूषन रन-आतुर मनो त्रान[1]।
भीषस लौं डासि मदन अर्जुन के बान॥
सोवति सर-सेज सूर, चल न चपल प्रान।
दच्छिन-रबि-अवधि अटक इतनीऐ जान॥२८७॥

राग नट

तुम्हरे विरह, ब्रजनाथ, अहो प्रिय! नयनन नदी बढ़ी।
लीने जात निमेष-कूल दोउ एते मान चढ़ी॥
गोलक-नव-नौका न सकत चलि, स्यो[2] सरकनि[3] बढ़ि बोरति।
ऊरध स्वासु-समीर तरंगन तेज तिलक-तरु तोरति[4]॥
कज्जल कीच कुचीलें[5] किए तट अंतर अधर कपोल।
रहे पथिक जो जहाँ सो तहाँ थकि हस्त[6] चरन मुख-चोल॥

---

(१) त्रान = अंगत्राण, कवच। (२) स्यो = सहित। (३) सरकनि = गति या प्रवाह से। (४) तिलक = टीका या तिलक किनारे के पेड़ हैं (तिलक एक वृक्ष भी है)। (५) कुचील = गँदा, मैला। (६) हस्त चरन = ये सब मानों पथिक हैं।

नाहिंन और उपाय रमापति बिन दरसन छन जीजै।
अस्रु-सलिल बूड़त सब गोकुल सूर सुकर गहि लीजै ॥

हमको सपनेहू में सोच।
जा दिन तें बिछुरे नँदनँदन ता दिन तें यह पोच ॥
मनो गोपाल आए मेरे घर, हँसि करि भुजा गही।
कहा करौं बैरिनि भइ निंदिया, निमिष न और रही ॥
ज्यों चकई प्रतिबिंब देखिकै आनंदी[1] पिय जानि।
सूर, पवन मिस निठुर बिधाता-चपल कर्‌यो जल आनि ॥२८९॥

राग कान्हरो

अँखियाँ अजान भईं।
एक अंग अवलोकत हरि को और हुती सो गईं।
यों भूली ज्यों चोर भरे घर चोरी निधि न लई।
बदलत[2] भोर भयो पछितानी, कर तें छाँड़ि दई ॥
ज्यों मुख परिपूरन हो त्यों ही पहिलेइ क्यों न रई।
सूर सकति अति लोभ बढ्यो है, उपजति पीर नई ॥२९०॥

राग केदारो

दधिसुत[3] जात हौ वहि देस।
द्वारका हैं स्यामसुंदर सकल भुवन-नरेस।
परम सीतल अमिय-तनु तुम कहियो यह उपदेस।
काज अपनो सारि, हमकों छाँड़ि रहे बिदेस ॥
नंदनंदन जगतबंदन धरहु नटवर-भेस।
नाथ! कैसे अनाथ छाँड़्यो कहियो सूर सँदेस ॥२९१॥

---

(१) आनंदी = आनंदित हुई (२) बदलत = यह लें कि यह लें, यही सोचते और वस्तु बदलते। (३ दधिसुत = उदधिसुत, चंद्रमा।

राग मलार

जाहि री सखी ! सीख सुनि मेरी ।
जहाँ बसत जदुनाथ जगतमनि बारक तहाँ आउ दै फेरी ॥
तू कोकिला कुलीन कुसलमति, जानति बिथा बिरहिनी केरी ।
उपबन बैठि बोलि मृदुबानी, वचन बिसाहि[1] मोहिं करु चेरी ॥
प्रानन के पलटे[2] पाइय जस, सेंति बिसाहु[3] सुजस ढेरी ।
नाहिंन कोउ और उपकारी सब बिधि बसुधा हेरी ॥
करियो प्रगट पुकार द्वार है अबलन्ह आनि अनँग अरि घेरी ।
ब्रज लै आउ सूर के प्रभु को गावहिं कोकिल ! कीरति तेरी ॥२६२॥

कोउ, माई ! बरजै या चंदहि ।
करत है कोप बहुत हम्ह ऊपर, कुमुदिनि करत अनंदहि ..
कहाँ कुहू, कहँ रवि अरु तमचुर, कहाँ बलाहक[4] कारे[5] ?
चलत न चपल, रहत रथ थकि करि, बिरहिनि के तन जारे ॥
निंदति सैल, उदधि, पन्नग को, सापति कमठ कठोरहिं[6] ।
देति असीस जरा[7] देवी को, राहु केतु किन जोरहि ?

---

(१) बचन बिसाहि = वचनों से अर्थात् केवल वहाँ बोलकर मुझे मोल ले। (२) प्रानन के पलटे = यश प्राण देने पर मिलता है, जल्दी नहीं मिलता (पर तुझे केवल बोलने से ही मिलेगा)। (३) बिसाहु = मोल ले। (४) बलाहक = बादल। (५) कहाँ कुहू.........कारे = इन सबके आने से चंद्रमा या तो छिप जाता है या मन्द हो जाता है। (६) निंदति.........कठोरहि = इनकी निंदा करती है, क्यों कि उस समुद्र मथन में ये सब सहायक हुए थे जिसमें चंद्रमा निकला था। (७) जरा = एक राक्षसी, जिसने जरासंध के शरीर के दो खंड जोड़े थे।

ज्यों जलहीन मीन-तन तलफत त्योंहि तपत ब्रजबालहि
सूरदास प्रभु बेगि मिलावहु मोहन मदन-गोपालहि

राग केदारो

जो पै कोउ मधुवन लै जाय।
पतिया लिखी स्यामसुंदर को, कर-कंकन देउँ ताय[1] ॥
अब वह प्रीति कहाँ गई, माधव! मिलते बेनु बजाय।
नयन-नीर सारँग-रिपु[2] भीजै दुख सो रैनि बिहाय ॥
सून्य भवन मोहिं खरो डरावै, यह ऋतु मन न सुहाय।
सूरदास यह समौ गए त, पुनि कह लैहैं आय? ॥२६४॥

राग मलार

हरि परदेस बहुत दिन लाए।
कारी घटा देखि बादर की नैन नीर भरि आए ॥
पा लागौं तुम्ह, वीर बटाऊ! कौन देस तें धाए।
इतनी पतिया मेरी दीजौ जहाँ स्यामघन छाए ॥
दादुर मोर पपीहा बोलत सोवत मदन जगाए।
सूरदास स्वामी जो बिछुरे प्रीतम भए पराए

आजु घन स्याम की अनुहारि।
उनै आए साँवरे, ते सजनी! देखि रूप की आरि ॥
इंद्रधनुष मनो नवल बसन छवि, दामिनि दसन बिचारि।
जनु बगपाँति माल मोतिन की, चितवत हितहिं निहारि ॥
गरजत गगन, गिरा गोविंद की सुनत नयन भरे वारि।
सूरदास गुन सुमिरि स्याम के बिकल भईं ब्रजनारि ॥

---

(१) ताय=ताहि, उसको। (२) सारँग-रिपु=कमल का शत्रु चंद्रमुख।

राग केदारो

हर को तिलक[1], हरि ! चित को दहत ।
कहियत है उडुराज अमृतमय, तजि सुभाव मोकों वन्हि बहत ॥
छपा न छीन होय, मेरी सजनी ! भूमि-डसन-रिपु[2] काधौं बसत ।
ससि नहिं गमन करै पच्छिम दिसि, राहु ग्रसत गहि, मोकों न गहत[3] ॥
ऐसोइ ध्यान धरत तुम, दधिसुत ! मुनि महेस जैसी रहनि रहत[4] ।
सूरदास प्रभु मोहन मूरति चितै जाति पै चित न सहत[5] ॥२९७॥

ए सखि ! आजु की रैनि को दुख कह्यो न कछु मोपै परै ।
मन राखन[6] को बेनु लियो कर, मृग थाके उडुपति न चरै[7] ॥
वाही प्राननाथ प्यारे बिनु सिव-रिपु[8]-बान नूतन जो जरै ।
अति अकुलाय बिरहिनी व्याकुल भूमि-डसन-रिपु भख न करै ॥
अति आतुर ह्वै सिंह लिख्यो कर जेहि भामिनी को करुन टरै ।
सूरदास ससि को रथ चलि गयो, पाछे, तें रवि उदय करै ॥२९८॥

राग मलार

देखौ माई ! नयनन्ह सों घन हारे ।
बिन ही ऋतु बरसत निसिबासर सदा सजल दोउ तारे ॥

---

(१) हर को तिलक = शिव का शिरोभूषण चन्द्र । (२) भूमि-डसन-रिपु = साँप । (३) राहु........गहत = इसको राहु पकड़ लेता जिसमें यह हमें न ग्रसता या कष्ट देता । (४) मुनि महेस...रहत = अर्थात् अचल आसन मारकर, ध्यान लगाकर । (५) चितै जाति...सहत = ध्यान में उनकी मूर्ति देखती हूँ, पर व्याकुलता से देखा नहीं जाता । (६) मन राखन को = मन बहलाने के लिए । (७) चरै = चलता है । (८) सिव-रिपु = कामदेव ।

ऊरध स्वास समीर तेज अति दुख अनेक द्रुम डारे।
बदन सदन करि बसे बचन-खग[1] ऋतु पावस के मारे॥
ढरि ढरि बूँद परत कंचुकि पर मिलि अंजन सों कारे।
मानहुं सिव की पर्नकुटी बिच धारा स्याम निनारे[2]॥
सुमिरि सुमिरी गरजत निसिबासर अस्रु-सलिल के धारे।
बूड़त ब्रजहि सूर को राखै बिनु गिरिवरधर प्यारे॥

जौ तू नेक हू उड़ि जाहि।
बिबिध बचन सुनाय बानी यहाँ रिझवत काहि॥
पतित[3] मुख पिक परुष पसु लौं कहा इतो रिसाहि।
नाहिंनै कोउ सुनत समुझत, बिकल बिरहिनि थाहि॥
राखि लेबी अवधि लौं तनु, मदन! मुख जनि खाहि।
तहूँ तौ तन-दगध देख्यो, बहुरि का समुझाहि॥
नन्दनन्दन को बिरह अति कहत बनत न ताहि।
सूर प्रभु ब्रजनाथ बिनु लै मौनैं मोहि बिसाहि[4]॥३००॥

राग सारंग

मधुकर! जोग न होत सँदेसन।
नाहिंन कोउ ब्रज में या सुनिहै कोटि जतन उपदेसन।
रबि के उदय मिलन चकई को संध्या-समय अँदेसँ न[5]।
क्यों बन बसैं बापुरे चातक, बधिकन्ह काज बधे सन॥

(१) बसे बचन-खग=वचन रूपी पक्षियों ने मुँह में ही बसेरा ले लिया है, बाहर नहीं निकलते। (२) निनारे=न्यारे, अलग अलग। (३) पतित मुख=मुँह नीचा किए। (४) लै मौन······बिसाहि=मौन द्वारा मुझको मोल ले ले अर्थात् चुप रहकर मुझे कृतज्ञ कर। (५) रबि के···अँदेस न=संध्या समय जब वियोग होता है, तब इसमें संदेह नहीं रहता कि सूर्योदय होने पर फिर मिलन होगा।

नगर एक नायक बिनु सूनो, नाहिंन काज सबै सन।
सूर सुभाय मिटत क्यों कारे जिहि कुल रीति डसै सन ॥३०१॥

यहि डर बहुरि न गोकुल आए।
सुन री सखी! हमारी करनी समुझि मधुपुरी छाए॥
अधरातिक तें उठि बालक सब मोहिं जगै हैं आय।
बिनु पदत्रान बहुरि पठवैंगी बनहिं चरावन गाय॥
सूनो भवन आनि रोकैंगी चोरत दधि नवनीत।
पकरि जसोदा पै लै जैहैं, नाचति गावति गीत॥
ग्वालिनि मोहिं बहुरि बाँधैंगी केते वचन लगाय।
एते दुःखन सुमिरि सूर मन, बहुरि सहै को जाय ॥३०२॥

तब तें बहुरि न कोऊ आयो।
वहै जो एक बार ऊधो पै कछुक सोध सो पायो॥
यहै बिचार करैं, सखि, माधव इतो गहरु क्यों लायो।
गोकुलनाथ कृपा करि कबहूँ लिखियौ नाहिं पठायो॥
अवधि आस एती करि यह मन अब जैहै बौरायो।
सूरदास प्रभु चातक बोल्यो, मेघन अम्बर छायो ॥३०३॥

राग धनाश्री

मेरो मन मथुराइ रह्यो।
गयो जो तन तें बहुरि न आयो, लै गोपाल गह्यो॥
इन नयनन को भेद न पाया, केइ भेदिया कह्यो।
राख्यो रूप चोरि चित-अन्तर, सोइ हरि सोध लह्यो[1]॥

(1) सोध लह्यो = पता पा गए कि मेरी मूर्ति राधा के हृदय में है।

आए बोलत ता बिन ऊधो 'मनि दै लेहु मह्यो'[1]।
निर्गुन साँटि[2] गोविंदहि माँगत, क्यों दुख जात सह्यो ॥
जेहि आधार आजु लौं यह तनु ऐसे ही निबह्यो।
सोइ छिंड़ाय[3] लेत सुनु सूरज, चाहत हृदय दह्यो ॥३०४॥

राग सारंग

लोग सब देत सुहाई[4] बातें।
कहतहि सुगम करत नहिं आवै, बोलि न आवत तातें ॥
पहिले आगि सुनत चन्दन सी सती बहुत उमहै।
समाचार ताते अरु सीरे पाछे कौन कहै ॥
कहत सबै संग्राम सुगम अति कुसुमलता करवार[5]।
सूरदास सिर दिए सूरमा पाछे कौन बिचार ? ॥३०५॥

राग गौरी

बिछुरत श्री ब्रजराज आज सखि ! नैनन की परतीति गई।
उड़ि न मिले हरि-संग बिहंगम[6] ह्वै न गए घनस्याम-मई।
यातें क्रूर कुटिल सह मेचक[7] बृथा मीन-छवि छीनि लई।
रूप-रसिक लालची कहावत, सो करनी कछु तौं न भई[8] ॥
अब काहे सोचत जल मोचत समय गए नित सूल नई।
सूरदास याहीं तें जड़ भए जब तें पलकन दगा दई ॥३०६॥

---

(१) मह्यो = मह्यो, मट्ठा। (२) साँटि = सोटे में, बदले में। (३) छिड़ाय लेत = छीन लेते हैं। (४) सुहाई = सुहावनी, प्रिय। (५) करवार = तलवार। (६) बिहंगम = क्योंकि नेत्र की उपमा खंजन से देते हैं। (७) मेचक = कालापन लिए। (८) कछु ... भई = जल से अलग होने पर मछली मर जाती है, पर आँखें बनी रहती हैं।

राग धनाश्री

को कहै हरि सों बात हमारी ?
हम तौ यह तब तें जिय जान्यौ जबै भए मधुकर अधिकारी ॥
एक प्रकृति, एकै कैतव[1]-गति, तेहि गुन अस जिय भावै ।
प्रगटत है नव कंज मनोहर, ब्रज किंसुक कारन कत आवै ॥
कंजतीर चंपक-रस-चंचल[2], गति सब ही तें न्यारी ।
ता अलि की संगति वसि मधुपुरि सूरदास प्रभु सुरति बिसारी ॥३०७॥

हमारे स्याम चलन चहत हैं दूरि ।
मधुबन बसत आस ही[3] सजनी ! अब मरिहैं जो विसूरि ॥
कौने कही, कहाँ सुनि आई ? केहि दिसि रथ की धूरि ।
संगहि सबै चलौ माधव के नातरु मरिबो मूरि ।
पच्छिम दिसि एक नगर द्वारका, सिन्धु रह्यो जल पूरि ।
सूर स्याम क्यों जीवहिं बाला, जात सजीवन मूरि ॥३०८॥

उती दूर तें को आवै हो ।
जाके हाथ सँदेस पठाऊँ सो कहि कान्ह कहाँ पावै हो ॥
सिंधुकूल एक देस कहत हैं, देख्यो सुन्यो न मन धावै हो ।
तहाँ रच्यो नव नगर नंदसुत पुरि द्वारका कहावै हो ॥
कंचन के सब भवन मनोहर, राजा रंक न तृन छावै हो ।
ह्वा के सब वासी लोगन को ब्रज को बसिबो नहिं भावै हो ॥
बहु बिधि करति बिलाप बिरहिनी बहुत उपाव न चित लावै हो ।
कहा करौं कहँ जाउँ सूर प्रभु. को मोहिं हरि पै पहुँचावै हो ॥३०९॥

---

(१) कैतव-गति = धोखे या छल की चाल । (२) रस चंचल = कमल के पास रहकर भी चंपा के लिए चंचल होता है जो उसके काम का नहीं । (३) ही = थी ।

राग सारंग

हमैं नंदनँदन को गारो[1]।

इन्द्रकोप ब्रज बह्यो जात हो, गिरि धरि सकल उबारो ॥
रामकृस्न बल बदति न काहू, निडर चरावत चारो।
सगरे बिगरे को सिर ऊपर बल को बीर[2] रखवारो ॥
तब तें हम न भरोसो पायो केसि तृनाब्रत मारो।
सूरदास प्रभु रङ्गभूमि में हरि जीतो, नृप हारो।३१०॥

राग मलार

ऐसे माई पावस ऋतु प्रथम सुरति करि माधवजू आवै री।

बरन बरन अनेक जलधर अति मनोहर बेष।
यहि समय यह गगन-सोभा सबन तें सुबिसेष ॥
उड़त बक, सुक-बृन्द राजत, रटत चातक मोर।
बहुत भाँति चित हित-रुचि[3] बाढ़त दामिनी घनघोर[4] ॥
धरनि-तनु तृनरोम हर्षित प्रिय समागम जानि।
और द्रुम बल्ली बियोगिनी मिलीं पति पहिचानि ॥
हस, पिक, सुक, सारिका अलिपुंज नाना नाद।
मुदित मंगल मेघ बरसत, गत बिहंग-बिषाद ॥
कुटज, कुन्द, कदम्ब, कोविद[5], कर्निकार[6], सु कंजु।
केतकी, करबीर[7], चिलर्क[8] बसन्त-सम तरु मंजु ॥

---

(१) गारो = गौरव, गर्व। (२) बीर = भाई। (३) हित-रुचि = प्रेम का अभिलाष। (४) घोर = बादल की गरज। (५) कोबिद = कोविदार, कचनार। (६) कर्निकार = कनियारी का पेड़। (७) करबीर = कनेर। (८) चिलक = चमक।

सघन तरु कलिका अलंकृत, सुकृत सुमन सुवास।
निरखि नयनन्ह होत मन माधव-मिलन की आस।
मनुज मृग पसु पच्छि परिमित[1] औ असित जे नाम।
सुख स्वदेस बिदेस प्रीतम सकल सुमिरत धाम॥
ह्वैहै न चित्त उपाय सोच न कछू परत बिचार।
नाहिं ब्रजबासी विसारत निकट नन्दकुमार॥
सुमिरि दसा दयाल सुंदर ललित गति मृदु हास।
चारु लोल कपोल कुण्डल डोल बलित-प्रकास॥
बेनु कर कल गीत गावत गोपसिसु वहु पास।
सुदिन कब यहि आँखि देखैं बहुरि बाल-बिलास॥
बार बारहिं सुधि रहति अति बिरह व्याकुल होति।
बात-बेग[2] सो लगै जैसो दीन दीपक ज्योति॥
सुनि बिलाप कृपाल सूरजदास प्रान प्रतीति।
दरस दै दुख दूरि करिहैं, सहि न सकिहैं प्रीति।।३११॥

चलहु धौं लै आवहिं गोपालै।
पायँ पकरि कै निहुरि बिनति कहि, गहि हलधर की बाहँ त्रिसालै॥
बारक बहुरि आनि कै देखहिं नन्द आपने बालै।
गैयन गनत गोप-गोपी-सह, सीखत बेनु रसालै॥
यद्यपि महाराज सुख-सम्पति कौन गनै मोतिन अरु लालै।
तदपि सूर आकरषि लियो मन उर घुँघचिन की मालै॥३१२॥

बलैया लैहौं, हो बीर बादर!
तुम्हरे रूप सम हमरे प्रीतम गए निकट जल-सागर।
पा लागौं द्वारका सिधारौ बिरहिनि के दुखदागर।
ऐसो संग सूर के प्रभु को करुनाधाम उजागर॥३१३॥

---

(१) परिमित = पर्यंत, तक। (२) बात-बेग = हवा का झोंका।

राग सारंग

उपमा न्याय[1] कही अँगन की।
गए मधुपुरी क्यों फिरि आवैं, सोभा कोटि अनंगन की।
मोरमुकुट सिर सुरधनु की छबि दूरहिं तें दरसावै।
जो कोउ करै कोटि कैसेहु नेकहु छुवन न पावै॥
अलक-भ्रमर भ्रमि भ्रमत सदा बन बहु-बेलीरस चाखै।
कमल-कोस-बासी कहियत पै बंस-बंस[2] अपनो मन राखै॥
कुण्डल मकर, नयन नीरज से, नासा सुक कबिकुल गावै।
थिर[3] न रहै सकुचै निसि-बस ह्वै, पंजर रहिकै वेनु सुनावै॥
भ्रूधनु प्रान-हरन, दसनावलि हीरक, अधर सुबिंब।
सहज कठिन, संगति बुधि-हर्ता, तहँ कीन्हों अवलम्ब[4] *॥
भुजा प्रचंड, सहा-रिपु मारक अंस[5] सो क्यों ठहराय।
तामे सप्त-छिद्र-युत मुरली मनहर मन्त्र पढ़ाय॥२१४॥

---

(१) न्याय=ठीक उचित। (२) बंस-बंस=बाँसों का कुल या समूह। (३) थिर न…सुनावै=ऊपर की पंक्ति के साथ क्रमालङ्कार की रीति से पढ़िए [पंजर=(क) शरीर (ख) पिंजरा। नाक से भी बाँसुरी बजा सकते हैं यह मानने से शुक के साथ संगति मिलती है]। (४) भ्रूधनु……अवलम्ब=इसमें क्रम का निर्वाह नहीं है? हीरक के लिए 'सहज कठिन' और भ्रूधनु का धर्म 'बुधिहर्त्ता' समझिए। (५) अंस=कंधा (गोपियों का)।

* इसमें क्रम का निर्वाह ध्यान देने से लक्षित हो जाता है। 'भ्रू धनु' के लिए तो 'प्रान-हरन' विशेषण है। पर 'दसनावलि-हीरक' और 'अधर सुबिंब' के लिए 'सहज कठिन' और 'बुधिहर्त्ता' कहा गया है। 'बिंबा' या 'तुंडी' बुद्धि-नाशक कही गई है—'सद्यः प्रज्ञाहरा तुंडी सद्यः प्रज्ञाकरी वचा'।

राग मलार

बारक जाइयो मिलि माधौ।
को जानै कब छूटि जायगो स्वाँस, रहै जिय साधौ॥
पहुनेहु नंद बबा के आवहु, देखि लेहुँ पल आधौ।
मिल ही में[1] बिपरीत करी बिधि, होत दरस को बाधौ॥
सो सुख सिव सनकादि न पावत जो सुख गोपिन लाधो[2]।
सूरदास राधा बिलपति है हरि को रूप अगाधो॥३१५॥

निसिदिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हम पै जब तें स्याम सिधारे॥
दृग अंजन लागत नहिं कबहूँ, उर-कपोल भए कारे।
कंचुकि नहिं सूखत सुनु सजनी! उर-बिच बहत पनारे॥
सूरदास प्रभु अंबु बढ्यो है, गोकुल लेहु उबारे।
कहँ लौं कहौं स्यामघन सुन्दर विकल होत अति भारे॥३१६॥

आछे कमल कोस-रस लोभी द्वै अलि[3] सोच करे।
कनक बेलि औ नवदल के ढिग बसते उभकि[4] परे॥
कबहुँक पच्छ सकोचि मौन ह्वै अंबुप्रवाह भरे।
कबहुँक कंपित चकित निपट ह्वै लोलुपता बिसरे॥
बिधु-मंडल[5] के बीच बिराजत अंमृत अंग भरे।
एतेउ जतन बचत नहिं तलफत बिनु मुख सुर उचरे॥

---

(१) मिल ही में = सब बातें बन जाने पर भी। (२) लाधो = लब्ध किया, पाया। (३) अलि = भौंरे अर्थात् नेत्र की पुतलियाँ। (४) उभकि परे = उचटकर चले गए। (५) बिधु-मंडल = चंद्रमंडल अर्थात् मुख।

कीर, कमठ, कोकिला उरग-कुल[1] देखत ध्यान धरे।
आपुन क्यों न पधारौ सूर प्रभु, देखे कह बिगरे ॥३१७॥

राग अडानो

सबन अबध[2], सुंदरी बधै जनि।
मुक्तामाल, अनंग! गंग नहिं, नवसत[3] साजे अर्थ-स्यामघन॥
भाल तिलक उडुपति न होय यह, कबरि-ग्रँथि अहिपति न सहस-फन।
नहिं बिभूति दधिसुत न भाल जड़! यह मृगमद चंदन-चर्चित तन॥
न गजचर्म यह असित कँचुकी, देखि बिचारि कहाँ नंदीगन।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु बरबस काम करत हठ हम सनं[4] ।३१८।

राग मलार

कोकिल! हरि को बोल सुनाव।
मधुबन तें उपटारि[5] स्याम कहँ या ब्रज लै कै आव॥
जाचक सरनहि[6] देत सयाने तन, मन, धन, सव साज।
सुजस बिकात बचन के बदले, क्यों न बिसाहत आज॥
कीजै कछु उपकार परायो यहै सयानो काज।
सूरदास प्रभु कहु या अवसर वन बन बसँत बिराज ॥३१९॥

राग सारंग

कहाँ रह्यो, माई! नंद को मोहन।
वह मूरति जिय तें नहिं बिसरति गयो सकल-जग-सोहन॥

---

(१) उरग-कुल=सर्पसमूह अर्थात् केश। (२) अवध=अबध्य। (३) नवसत=सोलह श्रृंगार। (४) इसी भाव का संस्कृत श्लोक है। (५) उपटारि=उचाटकरि। (६) सरनहिं=शरण में आए याचक को।

कान्ह बिना गो सुत को चारै, को ल्यावै भरि दोहन ?
माखन खात संग ग्वालन के, और सखा सब गोहन[1] ॥
ज्यों ज्यों सुरति करति हौं, सखि री ! त्यों त्यों अधिक मनमोहन ।
सूरदास स्वामी के बिछुरे क्यों जीवहिं इन छोहन[2] ॥३२०॥

परम चतुर सुन्दर सुख सागर तन को प्रिय प्रतिहार[3] ।
रूप लकुट[4] रोके रहतो, सखि ! अनुदिन नंदकुमार ॥
अब ता बिनु उर-भवन भयो है सिव रिपु[5] को संचार ।
दुख आवत मन, हटक[6] न मानत, सूनो देखि अगार ॥
असु[7] स-उसास[8] जात अँतर तें करत न सकुच विचार ।
निसा निमेष- कपाट[9] लगे बिनु ससि सत सत सर मार ॥
यह गति मेरी भई है हरि बिनु नाहिं कछू परिहार ।
सूरदास प्रभु वेगि मिलहु तुम नागर नँदकुमार ॥३२१॥

राग मलार

ऐसो सुनियत हैं द्वै सावन ।
वहै बात फिरि फिरि सालति है स्याम कह्यो है आवन ॥
तब तौ प्रीति करी, अब लागीं अपनो कीयो पावन ।
यहि दुख सखी निकसि उत जैये जितै सुनै कोउ नावँ न ॥
एकहि बेर तजी हम्ह, लागे मथुरा नेह बढ़ावन ।
सूर सुरति कत होति हमारी, लागीं नीकी[10] भावन ॥३२२॥

---

(१) गोहन = साथ । (२) छोहन = क्षोभ से । (३) प्रतिहार = पहरेदार, द्वारपाल । (४) रूप-लकुट = अपने सुंदर रूप की लाठी से । (५) सिव-रिपु = काम । (६) हटक = निषेध, मना करना । (७) असु = प्राण । (८) स-उसास = साँस के साथ । (९) निमेष कपाट = पलक रूपी किवाड़ । (१०) नीकी = अच्छी या सुन्दरी स्त्रियाँ ।

दुसह दसन-दुख दलि नैनन-जल परस[1] न परत सह्यो।
मानहुं स्रवत सुधा अन्तर तें, उर पर जात बह्यो॥
अब मुखससि ऐसो लागत ज्यों बिन माखनहि मह्यो।
सूर दरस हरि दान दिए बिनु[2] सुख-प्रकास निबह्यो[3] ॥३२८॥

गोपालहि बालक ही तें टेव।
जानति नाहिं कौन पै सीखे चोरी के छल-छेव॥
माखन-दूध धर्‍यो जब खाते सहि रहती करि कानि।
अब क्यों सही परति, सुनि सजनी! मनमानिक की हानि॥
कहियो, मधुप! सँदेस स्याम सों राजनीति समुझाय।
अजहूँ तजत नाहिं वा लोभै, जुगुत[4] नहीं जदुराय॥
बुधि बिबेक सरवस या ब्रज को लै जो रहे मुसकाय।
सूरदास प्रभु के गुन अवगुन कहिए कासों जाय।।३२६॥

जदपि मैं बहुतै जतन करे।

जदपि, मधुप! हरि-प्रिया जानि कै काहु न प्रान हरे॥
सौरभ-युत सुमनन लै निज कर संतत सेज धरे।
सनमुख होति सरद-ससि, सजनी! तऊ न अङ्ग जरे[5]॥
चातक मोर कोकिला मधुकर सुर सुनि स्रवन भरे।
सादर ह्वै निरखति रतिपति को नैक न पलक परे॥
निसिदिन रटति नंदनँदन, या उर तें छिन न टरे।
अति आतुर चतुरंग चमू सजि अनँग न सर सँचरे[6]॥

---

(१) परस=स्पर्श। (२) दरस...बिनु=दान पुण्य से चंद्रमा का छुटकारा होता है। (३) निबह्यो=नष्ट हो गया है। (४) जुगुत=युक्त, ठीक, उचित। (५) इसी प्रकार की उक्ति भवभूति की है. 'मालती-माधव' में। (६) सँचरे=चलाए।

जानति नाहिं कौन गुन या तन जातें सबै डरे।
सूरदास सकुचन श्रीपति के सुभटन बल बिसरे ॥३३०॥

राग धनाश्री

माधव सों न बनै मुख मोरे।
जिन्ह नयनन्ह ससि स्याम बिलोक्यो ते क्यों जात तरनि[1] सों जोरे।
मुनि-मन-रमन ये जोग, कमठ तन मँदर-भार सहै क्यों[2], ओ रे!
तरुनी-हृदय-कुमुद के बँधन कुंजर क्यों न रहत बिनु तोरे॥
नीलांबर-घनस्याम नीलमनि पैयत है क्यों धूम के भोरे[3]।
सूर भृंग कमलन के बिरही चँपक मन लागत कहुँ थोरे ॥३३१॥

राग जैतश्री

और सकल अँगन तें, ऊधो! अँखियाँ अधिक दुखारी।
अतिहि पिराति, सिराति न कबहूँ, बहुत जतन करि हारी॥
एकटक रहति, निमेष न लावति, बिथा बिकल भइ भारी।
भरि गइँ बिरह-बाय बिनु दरसन, चितवति रहति उघारी॥
रे रे अलि! गुरु[4] ज्ञान-सलाकहि क्यों सहि सकति तुम्हारी।
सूर सुअंजन आनु रूप-रस आरति हरन हमारी ॥३३२॥

राग कान्हरो

भूलति हौ कत मीठी बातन।
ये अलि हैं उनहीं के संगी, चंचल चित्त, साँवरे गातन॥
वै मुरली धुनि कै जग मोहत, इनकी गुंज सुमन-मन-पातन[5]।
वै उठि आन आन मन रंजत, ये उड़ि अनत रंग-रस-रातन॥

---

(१) तरनि=सूर्य। (२) क्यों=कैसे। (३) भोरे=धोखे में, धोखा खाकर। (४) गुरु=भारी। (५) मन-पातन=फूलों का मन डालने अर्थात् आकर्षित करनेवाले।

वै नवतनु मानिनि गृह-बासी, ये निसिदिवस रहत जलजातन।
ये षटपद, वै द्विपद चतुर्भुज, इनमें नाहिं भेद कोउ भाँतन॥
स्वारथ-निपुन सर्बरस भोगी जनि पतियाहु बिरह-दुखदातन[1]।
वै माधव, ये मधुप, सूर सुनि, इन दोउन कोऊ घटि घाटे[2] ना॥३३३॥

राग सारंग

हरि सों कहियो, हो, जैसे गोकुल आवैं।
दिन दस रहे सो भली कीन्ही, अब जनि गहरु[3] लगावैं॥
नाहिंन कछू सुहात तुमहिं बिनु, कानन भवन न भावैं।
देखे जात आपनी आँखिन्ह हम कहि कहा जनावैं?
बाल बिलख, मुख गउ न चरति तृन, बछरा पीवत पय नहिं धावैं।
सूर स्याम बिनु रटति रैनिदिन, मिलेहि भले सचु[4] पावैं॥३३४॥

राग सोरठ

सखी री! मथुरा में द्वै हँस।
एक अक्रूर और ये ऊधो, जानत नीके गंस[5]॥
ये दोउ छीर नीर पहिचानत, इनहिं बधायो कंस।
इनके कुल ऐसी चलि आई, सदा उजागर बंस॥
अजहूं कृपा करौ मधुबन पर जानि आपनो अंस।
सूर सुयोग सिखावत अबलन्ह, सुनत होय मनभ्रंस[6]॥३३५॥

राग सारंग

बारक कान्ह करौ किन फेरो?
दरसन दै मधुबन को सिधारो, सुख इतनो बहुतेरो॥

---

(१) दुख-दातन = दुःख देनेवाले। (२) घटि घाट = घटकर। (३) गहरु = देर। (४) सचु = सुख। (५) गंस = मन की गाँठ, कुटिलता। (६) मनभ्रंस = चित विक्षेप, व्याकुलता।

भलेहि मिले बसुदेव देवकी जननि जनक निज कुटुँब घनेरो।
केहि अवलंब रहैं हम ऊधो! देखि दुःख नँद-जसुमति केरो॥
तुम बिनु को अनाथ-प्रतिपालन, जाजरि[1] नाव कुसँग सबेरो[2]।
गए[3] सिंधु को पार उतारै, अब यह सूर थक्यो ब्रज-बेरो[4] ॥३३६॥

मानौ ढरे एक ही साँचे।
नखसिख कमल-नयन की सोभा एक भृगुलता-बाँचे[5] ॥
दारुजात[6] कैसे गुन इनमें, ऊपर अन्तर स्याम।
हमको धूम-गयन्द[7] बताबत, बचन कहत निष्काम॥
ये सब असित देह धरे जेते ऐसेई, सखि! जानि।
सूर एक तें एक आगरे वा मथुरा की खानि ॥३३७॥

राग सोरठ

बातैं कहत सयाने की सी।
कपट तिहारो प्रगट देखियत ज्यों जल नाए सीसी॥
हौं तो कहत तिहारे हित की काहे को तू भरमत।
हमहूं मया तिहारी हैं कछु, थोरी सी है मैमत[8] ॥
छाय बसाय गए सुफलकसुत नेकहु लागी बार न।
सूर कृपा करि आए ऊधो तापै ढेवा[9] डारन ॥३३८।

---

(१) जाजरि = जर्जर, जीर्ण। (२) सबेरो = सब। (३) गए = कृष्ण के चले जाने पर। (४) बेरो = बेड़ा। (५) भृगुलता-बाँचे = भृगु की लात का चिह्न छोड़कर। दारुजात = भौंरा। (७) धूम-गयंद = धूएँ का हाथी, धोखे की बस्तु अर्थात् निर्गुण ब्रह्म। (८) मैमत = ममता, स्नेह। (९) ढेवा = खेप; गीली मिट्टी का ढेर जो दीवार उठाने के लिए डाला जाता है।

राग सारंग

आए नँदनन्दन के नेव[1] ।
गोकुल आय जोग बिस्तार्यो, भली तुम्हारी टेव ॥
जब बृन्दाबन रास रच्यो हरि तबहि कहाँ तू हेव[2] ।
अब जुवतिन को जोग सिखावत, भस्म अधारी सेव ॥
हम लगि तुम क्यों यह मत ठान्यो ज्यों जोगिन को भोग[3] ।
सूरदास प्रभु सुनत अधिक दुख, आतुर बिरह-बियोग ॥३३९॥

मनौ दोउ एकहि मते भए ।
ऊधो अरु अक्रूर बधिक दोउ ब्रज आखेट ठए[4] ॥
बचन-पास बाँधे माधव-मृग, उनरत[5] घालि लए ।
इनहीं हती मृगी-गोपीजन सायक-ज्ञान हए ॥
बिरह-ताप को दवा देखियत चहुं दिसि लाय दए ।
अब धौं कहा कियो चाहत हैं, सोचत नाहिंन ए ॥
परमारथी ज्ञान[6] उपदेसत बिरहिन प्रेम-रए[7] ।
कैसे जियहि स्याम बिनु सूरज चुम्बक मेघ गए ॥३४०॥

या ब्रज सगुन-दीप[8] परगास्यो ।
सुनि ऊधो ! भृकुटी त्रिवेदि[9]-तर निसिदिन प्रगट अभास्यो ॥
सब के उर-सरवनि[10] सनेह भरि सुमन तिली को बास्यो ।

---

(१) नेव = नायब, मंत्री । (२) हेव = थो, तू था । (३) जोगिन को भोग = जैसे योगियों के लिए भोग वैसे ही हमारे लिए योग । (४) ठए = ठाना । (५) उनरत = उछलते हुए । (६) परमारथी ज्ञान = पारमार्थिक ज्ञान, ब्रह्मज्ञान । (७) रए = रँगे । (८) सगुन-दीप = सगुण ज्योति को जगानेवाला दीपक । (९) त्रिवेदि = तिपाई, चौकी (१०) उर-सरवनि = हृदय रूपी शराव या पात्र ।

गुन[1] अनेक ते गुने, कपूर सम परिमल बारह मास्यो ॥
बिरह-अगिनि आँगन सब के, नहिं बुझत परे चौमास्यो[2] ।
ताके तीन फुँकैया[3] हरि से, तुम से, पँचसरा[4] स्यो ॥
आन-भजन तृन सम परिहरि सब करतीं जोति-उपास्यो ।
साधन भोग निरञ्जन तें रे अन्धकार तम नास्यो ॥
जा दिन भयो तिहारो आवन बोलत हौ उनहास्यो ।
रहि न सके तुम, सौंक रूप है निर्गुन-काज उकास्यो[5] ॥
बाढ़ी जोति सो केस-देस[6] लौं, टूट्यो ज्ञान-मवास्यो[7] ।
दुरबासना-सलभ सब जारे जे छै रहे अकास्यो ।
तुम तौ निपट निकट के बासी, सुनियत हुते खवास्यो[8] ।
गोकुल कछु रस-रीति न जानत, देखत नाहिं तमास्यो ॥
सूर, करम की खीर परोसो, फिरि फिरि चरत जवास्यो ॥३४१॥

सब जल तजे प्रेम के नाते ।
तऊ स्वाति चातक नहिं छाँड़त प्रकट पुकारत ताते ॥
समुझत मीन नीर की बातें तऊ प्रान हठि हारत ।
सुनत कुरङ्ग नादरस पूरन, जदपि व्याध सर मारत ॥
निमिष चकोर नयन नहिं लावत, ससि जोवत जुग बीते ।
कोटि पतंग जाति वपु जारे, भए न प्रेम-घट रीते[9] ॥
अब लौं नहिं बिसरीं वे बातें सँग जो करीं ब्रजराज ।
सुनि ऊधो ! हम सूर स्याम को छाँड़ि देहिं केहि काज ? ॥३४२॥

---

(१) गुन = तागा, बत्ती । (२) चौमास्यो = चौमासे या वर्षा में भी । (३) फुँकैया = फूँककर आग दहकानेवाले । (४) पंचसरा = पंचशर, कामदेव । (५) उकास्यो = उकसाया, बत्ती खसकाई । (६) केस-देस = ब्रह्मांड मस्तक । (७) मवास्यो = मवास, गढ़, किला । (८) खवास्यो = खवास भी, मंत्री भी । (९) रीते = खाली ।

ऊधो ! मन की मन ही माँझ रही।
कहिए जाय कौन सों, ऊधो ! नाहिंन परति सही ॥
अवधि अधार आवनहि की तन, मन ही बिथा सही।
चाहति हुती गुहार[1] जहाँ तें तहँहि तें धार बही ॥
अब यह दसा देखि[2] निज नयनन सब मरजाद ढही।
सूरदास प्रभु के बिछुरे तें दुसह वियोग-दहो ॥३४३॥

राग मलार

स्याम को यहै परेखो आवै[3]।
कत वह प्रीति चरन जावक कृत[4], अब कुब्जा मन भावै ॥
तब कत पानि धर्‌यो गोवर्द्धन, कत ब्रजपतिहि छुड़ावै ?
कत वह वेनु अधर मोहन धरि लै लै नाम बुलावै ?
तब कत लाड़ लड़ाय लड़ैते हँसि हँसि कण्ठ लगावै ?
अब वह रूप अनूप कृपा करि नयनन हू न दिखावै ॥
जा मुख-सँग समीप रैनि-दिन सोइ अब जोग सिखावै।
जिन मुख दए अमृत रसना भरि सो कैसे विष प्यावै ?
कर मीड़ति पछताति हियो भरि, क्रम क्रम मन समुझावै।
सूरदास यहि भाँति वियोगिनी तातें अति दुख पावै ॥३४४॥

सखी री ! मो मन धोखे जात।
ऊधो कहत, रहत हरि मधुपुरि, गत आगत[5] न थकात ॥

---

(१) गुहार = रक्षा के लिए दौड़। (२) देखि = देख तू। (३) यहै परेखो आवै = यही बात मन में सोचती हूँ। (४) कृत = किया, बनाया। (५) गत आगत = आते जाते।

इत देखौं तौ आगे मधुकर मत्त-न्याय सतरात[1]।
फिरि चाहौं[2] तौ प्रान-नाथ उत सुनत कथा मुसकात ॥
हरि साँचे ज्ञानी सब झूठे जे निर्गुन-जस गात[3]।
सूरदास जेहि सब जग डहक्यो[4] ते इनको डहकात ॥३४५॥

राग गौरी

ब्रज तें द्वै ऋतु पै न गई।
पावस अरु ग्रीषम, प्रचंड, सखि! हरि बिनु अधिक भई ॥
ऊरध स्वास समीर, नयन घन, सब जलजोग जुरे।
बरषि जो प्रगट किए दुख-दादुर हुते जे दूरि दुरे[5] ॥
बिषम बियोग दुसह दिनकर सम दिनप्रति उदय करे।
हरि-बिधु बिमुख भए कहि सूरज को तनताप हरे ॥३४६॥

तुमहिं मधुप! गोपाल-दुहाई।
कबहुंक स्याम करत ह्याँ को मन, किधौं निपट चित सुधि बिसराई?
हम अहीरि मतिहीन बापुरी हटकत[6] हू हठि करहिं मिताई।
वै नागर मथुरा निरमोही, अँग अँग भरे कपट चतुराई ॥
साँची कहहु देहु स्त्रवनन सुख, छाँड़हु जिया कुटिल धूताई[7]।
सूरदास प्रभु बिरद-लाज धरि मेटहु ह्याँ की नेकु हँसाई ॥३४७॥

राग सोरठ

बिरही कहँ लौं आपु सँभारै?
जब तें गंग परी हरिपद तें बहिबो नाहिं निवारै ॥

---

(१) मत्त-न्याय सतरात = पागल की तरह बड़बड़ाता है। (२) फिरि चाहौं = फिरकर जो मथुरा की ओर देखती हूँ (मन बराबर मथुरा आता जाता है)। (३) जस गात = यश गाते हैं। (४) डहक्यो = ठगा, धोखे में डाला माया द्वारा। (५) दुरे हुते = छिपे थे। (६) हटकत हू = मना करते हुए भी। (७) धूताई = धूर्तता।

राग नट

ऊधो ! धनि तुम्हरो व्यवहार ।
धनि वै ठाकुर, धनि वै सेवक, धनि तुम बर्तनहार ॥
आम को काटि बबूर लगावत, चन्दन को कुरवार[1] ।
सूर स्याम कैसे निबहैगी अन्धधुन्ध सरकार ॥३५३॥

जाहु जाहु ऊधो ! जाने हौ पहचाने हौ ।
जैसे हरि तैसे तुम सेवक, कपट चतुरई-साने हौ ॥
निर्गुन-ज्ञान कहाँ तुम पायो, केहि सिखए ब्रज आने हौ ।
यह उपदेस देहु लै कुबजहि जाके रूप लुभाने हौ ॥
कहँ लगि कहौं योग की बातैं, बाँचत नैन पिराने हो ।
सूरदास प्रभु हम हैं खोटी तुम तो बारह बाने[2] हौ ॥३५४॥

राग सारंग

मधुबन सब कृतज्ञ धर्मीले ।
अति उदार परहित डोलत हैं, बोलत बचन सुसीले ॥
प्रथम आय गोकुल सुफलकसुत लै मधुपुरिही सिधारे ।
वहाँ कंस ह्याँ हम दीनन को दूनो काज सँवारे ॥
हरि को सिखै सिखावन हमको अब ऊधो पग धारे ।
ह्वाँ दासी-रति की कीरति कै, यहाँ जोग बिस्तारे ॥
अब या बिरह-समुद्र सबै हम बूड़ी चहति नहीं[3] ।
लीला सगुन नाव ही, सुनु अलि, तेहि अवलंब रही ॥
अब, निर्गुनहि गहे जुवतीजन पारहिं कहौ गई को ?
सूर अक्रूर छपद के मन में नाहिंन त्रास दई को ॥३५५॥

---

(१) कुरवार=कुरवारि, खोदकर । (२) बारह बाने=बारह बानी के अर्थात् चोखे, खरे (सोने) । (३) नहीं=नधी हुई, जुती हुई ।

ऊधो ! भूलि भले भटके।
कहत कही कछु बात लड़ैते तुम ताही अटके ॥
देख्यो सकल सयान[1] तिहारो, लीन्हे छरि फटके[2]।
तुमहिं दियो बहराय इतै कों, वै कुबजा सों अटके ॥
लीजो जोग सँभारि आपनो जाहु तहाँ टटके।
सूर. स्याम तजि कोउ न लैहे या जोगहि कटुके[3] ॥३५६॥

राग धनाश्री

जोग-सँदेसो ब्रज में लावत।
थाके चरन तिहारे, ऊधो ! बार बार के धावत ॥
सुनिहै कथा कौन निर्गुन की, रचि पचि[4] बात बनावत।
सगुन-सुमेरु प्रगट देखियत, तुम तृन की ओट[5] दुरावत ॥
हम जानत परपंच स्याम के, बातन ही बहरावत।
देखी सुनी न अब लौं कबहूँ, जल मथे माखन आवत।
जोगी जोग-अपार सिंधु में ढूँढ़े हू नहिं पावत।
ह्याँ हरि प्रगट प्रेम जसुमति के ऊखल आप बँधावत।
चुप करि रहौ, ज्ञान ढँकि राखौ; कत हौ बिरह बढ़ावत।
नंदकुमार कमलदल-लोचन कहि को जाहि न भावत ?
काहे को बिपरीत बात कहि सब के प्रान गँवावत ॥
सोहै सो कित सूर अबलनि जेहि निगम नेति कहि गावत ? ।३५७॥

---

(१) सयान = सयानापन, चतुराई। (२) छरि फटके = झाड़ फटककर, खूब जाँचकर। (३) कटुके = कटु जोग को। (४) पचि = हैरान होकर। (५) सगुन-सुमेरु······ओट = भगवान् के सगुण स्वरूप ऐसे बड़े और प्रत्यक्ष पदार्थ को अत्यन्त सूक्ष्म निर्गुण ब्रह्म की ओट में छिपाया चाहते हो।

राग सारंग

कहा भयो हरि मथुरा गए।
अब, अलि ! हरि कैसे सुख पावत तन द्वै भाँति भए[1] ॥
यहाँ अटक अति प्रेम पुरातन, ह्वाँ अति नेह नए।
ह्वाँ सुनियत नृप-वेष, यहाँ दिन[2] देखियत बेनु लए ॥
कहा हाथ पर्‌यो सठ अक्रूरहिं वह ठग-ठाट ठए।
अब क्यों कान्ह रहत गोकुल बिनु जोगन के सिखए ॥
राजा राज करौ अपने घर माथे छत्र दए।
चिरंजीव रहौ, सूर नंदसुत, जीजत मुख चितए ॥३५८॥

राग बिलावल

तुम्हारी प्रीति, ऊधो ! पूरव जनम की अब तो भए मेरे तनहु के गरजी।
बहुत दिनन तें बिरमि रहे हौ, संग तें बिछोहि हमहिं गए बरजी ॥
जा दिन तें तुम प्रीति करी[3] ही घटति न, बढ़ति तूल[4] लेहु नरजी[5]।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु तन भयो ब्योंत,बिरह भयो दरजी३५९.

राग मलार

गोपालहि लै आवहू मनाय।
अब की बेर कैसेहुकरि, ऊधो ! करि छल बल गहि पाय ॥
दीजौ उनहिं सुसारि उरहनो संधि संधि समुझाय।
जिनहिं छाँड़ि बढ़िया[6] महँ आए ते बिकल भए जदुराय ॥
तुम सों कहा कहौं, हो मधुकर ! बातैं बहुत बनाय।
बहियाँ पकरि सूर के प्रभु की, नंद की सौंह दिवाय ॥३६०॥

---

(१) द्वै भाँति भए = दो रूपों का एक साथ निर्वाह करना पड़ता है। (२) दिन = प्रतिदिन, सदा। (३) करी ही = की थी। (४) तूल = लंबाई। (५) नरजि लेहु = नाप लो। (६) बढ़िया = बाढ़, विरह-प्रवाह की।

राग सोरठ

कै तुम सों छूटैं लरि, ऊधो, कै रहिए गहि मौन।
एक हम जरैं जरे पर जारत, बोलहु कुबची[1] कौन?
एक अंग मिले दोऊ कारे, काको मन पतियाए?
तुम सी होय सो तुम सों बोलै, लीने जोगहि आए॥
जा काहू कों जोग चाहिए सो लै भस्म लगावै।
जिन्ह उर ध्यान नंदनंदन को तिन्ह क्यों निर्गुन भावै?
कहौ सँदेस सूर के प्रभु को, यह निर्गुन अँधियारो।
अपनो बोयो आप लूनिए, तुम आपुहि निरवारो[2]॥३६१॥

राग सारंग

ऐसो, माई[3]! एक कोद[4] को हेतु।
जैसे वसन कुसुँभ-रंग मिलि कै नेकुचटक पुनि सेत॥
जैसे करनि किसान बापुरो नौ नौ बाहैं देत[5]।
एतेहू पै नीर निठुर भयो उमगि आय सब लेत॥
सब गोपी भाखैं ऊधो सों, सुनियो बात सचेत।
सूरदास प्रभु जन तें बिछुरें ज्यों कृत राई रेत[6]॥३६२॥

---

(१) कुबजी = बुरी बात कहनेवाला। (२) निरवारो = सुलझाओ (अपने निर्गुण की उलझन को)। (३) माई = सखी के लिए संबोधन। (४) कोद = ओर, तरफ। (५) बाहैं देत = कई बाँह जोतता है। (६) ज्यो कृत राई रेत = जैसे रेत या बालू में राई कर दी गई हो (रेत में बिखरी राई इकट्ठा करना असंभव होता है)।

राग मलार

मधुकर, मन सुनि जोग डरै।
तुमहू चतुर कहावत अति ही इतो न समुझि परै॥
और सुमन जो अनेक सुगंधित, सीतल रुचि सो करै।
क्यों तू कोकनद बनहिं सरै[1] औ और सबै अनरै[2]?
दिनकर महाप्रतापपुंज-वर, सबको तेज हरै।
क्यों न चकोर छाँड़ि मृग-अंकहि[3] वाको ध्यान करै?
उलटोइ ज्ञान सबै उपदेसत, सुनि सुनि जीय जरै।
जंबू-वृक्ष कहौ क्यों, लंपट! फलवर अंब फरै॥
मुक्ता अवधि मराल प्रान है जौ लगि ताहि चरै।
निघटत निपट, सूर, ज्यों जल बिनु व्याकुल मीन मरै॥३६३॥

विरचि[4] मन बहुरि राच्यो[5] आय।
टूटी जुरै बहुत जतनन करि तऊ दोष नहिं जाय॥
कपट हेतु की प्रीति निरंतर नोइ[6] चोखाई[7] गाय।
दूध फटे जैसे भइ काँजी, कौन स्वाद करि खाय?
केरा पास ज्यों बेर निरंतर हालत दुख दै जाय[8]।
स्वाति-बूँद ज्यों परे फनिक-मुख परत बिषै ह्वै जाय॥
ऐसी केती तुम जौ उनकी कहौ बनाय बनाय।
सूरजदास दिगंबर-पुर में कहा रजक-व्यौसाय॥३६४॥

---

(१) सरै = जाता है। (२) अनरै = अनादर करता है। (३) मृग-अंक = चंद्रमा। (४) विरचि = बिरक्त होकर, उचटकर। (५) राच्यो = अनुरक्त हुआ। (६) नोइ = पैर रस्सी से बाँधकर। (७) चोखाई = दुही या दूध गारी जाती हुई। (८) केरा...जाय = बेर के पास के केलों के पत्ते हिलने पर काँटों से छिद जाते हैं।

राग नट

कहत कत परदेसी की बात ?
मंदिर-अरध-अवधि[1] वदि हम सों, हरि-अहार[2] चलि जात ॥
ससि-रिपु[3] बरष सूर-रिपु[4] युग बर, हर-रिपु[5] किए फिरै घात।
मघ-पंचक[6] लै गए स्यामघन, आय बनी यह बात ॥
नखत, बेद, ग्रह जोरि अर्द्ध करि[7] को बरजै हम खात।
सूरदास प्रभु तुमहिं मिलन कों कर मीड़ति पछितात ॥३६५॥

राग धनाश्री

ऊधो ! मन माने की बात।
दाख छुहारा छाँड़ि अमृत-फल विष-कीरा विष खात।
जौ चकोर को दै कपूर कोउ तजि अंगार अघात ?
मधुप करत घर कोरि[8] काठ में बँधत कमल के पात ॥
ज्यों पतंग हित जानि आपनो दीपक सों लपटात।
सूरदास जाको मन जासों सोई ताहि सुहात ॥३६६॥

राग विलावल

कर-कंकन तें भुज-टाँड़[9] भई।
मधुवन चलत स्याम मनमोहन आवन-अवधि जो निकट दई ॥

---

(१) मंदिर- अरध-अवधि = मंदिर, घर, उसका आधा भाग पाख अर्थात् एक पाख या पक्ष की अवधि। (२) हरि-अहार = मांस, महीना। (३) ससि-रिपु = दिन अर्थात् दिन एक वर्ष के समान बीतता है। (४) सूर-रिपु = रात। (५) हर-रिपु = कामदेव। (६) मघ-पंचक = मघा से लेकर पाँचवाँ नक्षत्र चित्रा अर्थात् चित्त। (७) नखत बेद……करि = नक्षत्र २७, वेद ४, ग्रह ९ जोड़ने से ४० आया; उसका आधा हुआ बीस अर्थात् विष। (८) कोरी = कुरेदकर, कुतरकर। (९) टाँड़ = बाहु में पहनने का एक गहना (कृशता-वर्णन)।

जोहति पंथ मनावति संकर बासर निसि मोहिं गनत गई।
पाती लिखत बिरह तन व्याकुल कागर[1] ह्वै गयो नीरमई ॥
ऊधो! मुख के बचनन कहियो[2] हरि सों सूल नितप्रतिहि नई।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस को बियोगिनि बिकल भई ॥३६७॥

राग धनाश्री

फूल बिनन नहिं जाउँ सखी री! हरि बिन कैसे बीनौं फूल।
सुन री, सखी! मोहिं रामदोहाई फूल लगत तिरसूल ॥
वे जो देखियत राते राते फूलन फूली डार।
हरि बिन फूल झार[3] से लागत झरि झरि परत अँगार ॥
कैसे कै पनघट जाउँ सखी री! डोलौं सरिता-तीर।
भरि भरि जमुना उमड़ि चली है इन नैनन के नीर ॥
इन नैनन के नीर सखी री! सेज भई घरनाउ[4]।
चाहति हौं याही पै चढ़िकै स्याम-मिलन कों जाउँ ॥
प्रान हमारे बिन हरि प्यारे रहे अधरन पर आय।
सूरदास के प्रभु सों सजनी कौन कहै समुझाय? ॥३६८॥

राग बिहागरो

ऊधो जू! मैं तिहारे चरनन लागौं बारक या ब्रज करबि भाँवरी।
निसि न नींद आवै, दिन न भोजन भावै, मग जोवत भई दृष्टि झाँवरी ॥
वहै वृंदावन स्याम सघन बन, वहै सुभग सरि साँवरी।
एक स्याम बिनु स्याम न भावै सुधि न रही जैसे बकत बावरी ॥

---

(१) कागर = कागज। (२) बचनन कहियो = इससे जबानी ही कहना। (३) झार = अग्नि की ज्वाला। (४) घरनाउ = घड़नई, बाँस में उलटे घड़े बाँधकर बनाई हुई नाव।

लाज छाँड़ि हम उतहिं आवती चलि न सकति आवै विरह-ताँवरी[1]।
सूरदास प्रभु बेगि दरस दीजै होयहै जग में कीरति रावरी ॥३६६॥

ऊधो ! जबहिं जाव गोकुलमनि आगे पैयाँ लागन कहियो ।
अब मोहिं विपति परी दर्सन बिनु, सहि न सकत तन दारुन दहियो ॥
सरदचंद मोहिं बैरि महा भयो, अनिल सहि न परै किहि विधि रहियो ?
सूर स्याम बिनु गृह बन सूनो, बिन मोहन काको सुख चहियो ?॥ ३७०॥

राग मलार

मेरे मन इतनी सूल रही ।
वै बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं जे नँदलाल कही ॥
एक दिवस मेरे गृह आए मैं ही मथति दही ।
देखि तिन्हें मैं मान कियो सखि सो हरि गुसा गही ॥
सोचति अति पछिताति राधिका मुर्छित धरनि ढही ।
सूरदास प्रभु के बिछुरे तें बिथा न जाति सही ॥३७१॥

राग सारंग

देखौ माधव की मित्राई ।
आई उघरि कनक-कलई ज्यों दै निज[2] गये दगाई ॥
हम जाने हरि हितू हमारे उनके चित्त ठगाई ।
छाँड़ी सुरति सबै ब्रजकुल की निठुर लोग बिलमाई ॥
प्रेम निबाहि कहा वै जानैं साँचेई अहिराई ।
सूरदास बिरहिनी विकल-मति कर मींजै पछिताई ॥३७२॥

राग सोरठ

मैं जान्यो मोको माधव हित है कियो ।
अति आदर अलि ज्यों मिलि कमलहिं मुख-मकरंद लियो ॥

---

(१) ताँवरी = ताप, ज्वर, । (२) निज = केवल, बिलकुल ।

बरु वह भली पूतना जाको पय-संग प्रान पियो।
मनमधु अँचै निपट सूने तन यह दुख अधिक दियो॥
देखि अचेत अमृत-अवलोकनि, चलि जु सींचि हियो।
सूरदास प्रभु वा अधार के नाते परत जियो॥३७३॥

अब या तनहिं राखि का कीजै ?
सुनि री सखी ! स्यामसुंदर बिन बाटि[1] विषम बिष पीजै॥
कै गिरिए गिरि चढ़िकै, सजनी, कैस्वकर सीस सिव दीजै।
कै दहिए दारुन दावानल, कै तो जाय जमुन धँसि लीजै॥
दुसह वियोग बिरह माधव के कौन दिनहिं दिन छीजै ?
सूरदास प्रीतम बिन राधे सोचि सोचि मनही मन खीजै॥३७४॥

यशोदा का वचन उद्धव प्रति

राग सोरठ

सँदेसो देवकी सों कहियो॥
हौं तो धाय[2] तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो॥
उबटन तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती करम करम करि न्हाते॥
तुम तौ टेव जानतिहि ह्वैहौ तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतेहि माखन-रोटी भावै॥
अब यह सूर मोहिं निसिबासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलक-लड़ैते[3] लालन ह्वै हैं करत सँकोच॥३७५॥

(१) बाटि = पीसकर, घिसकर। (२) धाय = धात्री, दाई। (३) अलकलड़ैते = दुलारे, लाड़ले।

यद्यपि मन समुझावत लोग ।
सूल होत नवनीत देखिकै मोहन के मुख-जोग ॥
प्रात-समय उठि माखन-रोटी को बिन मांगे दैहै ?
को मेरे बालक कुँवर कान्ह को छन छन आगो लैहै ?
कहियो जाय पथिक ! घर आवैं राम स्याम दोउ भैया ।
सूर चहाँ कत होत दुखारी जिनके मो सी मैया ॥३७६॥

राग सारंग

जो पै राखति हौ पहिंचानि ।
तौ बारेक मेरे मोहन को मोहिं देहु दिखाई आनि ॥
तुम रानी वसुदेवगिरहिनी हम अहीर ब्रजवासी ।
पठै देहु मेरो लाल लड़ैतो वारों ऐसी हाँसी[1] ॥
भली करी कंसादिक मारे अवसर-काज कियो ।
अब इन गैयन कौन चरावै भरि भरि लेत हियो ॥
खान, पान, परिधान, राजसुख केतोउ लाड़ लड़ावै ।
तदपि सूर मेरो यह बालक माखन ही सचु[2] पावै ॥३७७॥

कुब्जा-संदेश

राग सोरठ

मो पै काहे को भुकति[3] ब्रजनारी ?
काहू के भाग मों साझो नाहिंन, हरि की कृपा नियारी ॥
फलन माँझ जैसे करुई तूमरि रहति जो घूरे डारी ।
हाथ परी जब गुनी जनन के बाजति राग दुलारी ॥

(१) वारों ऐसी हाँसी = ऐसी हँसी चूल्हे में जाय । (२) सचु = सुख ।
(३) झुकति = टूटती हो, कोप करती हो ।

यह सँदेस कुब्जा कहि पठयो अरु कीन्ही मनुहारी।
तन टेढ़ी सब कोऊ जानत, परसे भइ अधिकारी॥
हौं तौ दासी कंसराय की, देखहु हृदय बिचारी।
सूर स्याम करुनाकर स्वामी अपने हाथ सँवारी॥३७८॥

उद्धव-गोपी-संवाद

उद्धव-वचन

राग सारंग

हौं तुम पै ब्रजनाथ पठायो। आतमज्ञान-सिखावन आयो॥
आपुहि पुरुष, आपुही नारी। आपुहि बानप्रस्थ ब्रतधारी॥
आपुहि पिता, आपुही माता। आपुहि भगिनी, आपुहि भ्राता॥
आपुहि पंडित, आपुहि ज्ञानी। आपुहि राजा, आपुहि रानी॥
आपुहि धरती, आपु अकासा। आपुहि स्वामी, आपुहि दासा॥
आपुहि ग्वाल, आपुही गाई। आपुहि आप चरावन जाई॥
आपुहि भँवर, आपुही फूल। आतमज्ञान बिना जग भूल॥
रंक राव दूजो नहिं कोय। आपुहि आप निरंजन सोय॥
यहि प्रकार जाको मन लागै। जरा, मरन, जी तें भ्रम भागै॥

गोपी-वचन

सुनु ऊधो! ह्याँ कौन सयानी?। तुम तौ महापुरुष बड़ज्ञानी॥
जोगी होय सो जोगहि जानै। नवधा भक्ति सदा मन मानै॥
भाव-भगति हरिजन चित धारे। ज्योति-रूप सिव सनक बिचारे॥
तुम कह रचि रचि कहत सयानी[1]। अबला हरि के रूप दिवानी॥
जात[2]-पीर बंझा नहिं जानै। बिनु देखे कैसे रुचि मानैं?
फिरि फिरि कहे वहै सुधि आवै। स्यामरूप बिनु और न भावै॥

---

(१) सयानी = चतुराई। ज्ञान की बात। (२) जात = बच्चा जनने की।

जोग-समाधि जोति चित लावै। परमानंद परमपद पावै॥
नवकिसोर को जबहिं निहारैं। कोटि ज्योति वा छवि पै वारैं॥
सजल मेघ घनस्याम-सरीर। रूप ठगी हलधर के बीर[1]॥
सिर श्रीखंड,[2] कुंडल, बनमाल। क्यों बिसरैं वै नयन बिसाल?
मृगमद[3] तिलक अलक घुँघरारे। उन मोहन मन हरे हमारे॥
भ्रुकुटी बिकट, नासिका राजै। अरुन अधर मुरली कल बाजै॥
दाड़िम-दसन-दमक-दुति सोहै। मृदु मुसकानि मदन-मन मोहै॥
चारु चिबुक, उर पर गजमोती। दूरि करत उडुगन की जोती॥
कंकन, किंकिन, पदिक बिराजै। चलत चरन कल नूपुर बाजै॥
बन की धातु[4] चित्र तनु किये। वह छबि चुभि जु रही हम हिये॥
पीत वसन छवि बरनि न जाई। नखसिख सुंदर कुंवर कन्हाई॥
रूपरासि ग्वालन को संगी। कब देखैं वह रूप त्रिभंगी॥
जो तुम हित की बात सुनावौ। मदनगोपालहि क्यों न मिलावौ?

उद्धव-वचन

ताहि भजहु किन सबै सयानी? खोजत जाहि महामुनि ज्ञानी॥
जाके रूप-रेख कछु नाहीं। नयन मूँदि चितवहु चित माहीं॥
हृदय-कमल में जोति बिराजै। अनहद नाद निरंतर बाजै॥
इड़ा पिंगला सुखमन नारी[5]। सून्य सहज में बसैं मुरारी॥
मात पिता नहिं दारा भाई। जल थल घट घट रहे समाई॥
यहि प्रकार भव दुस्तर तरिहौ। जोग-पंथ क्रम क्रम अनुसरिहौ॥

गोपी-वचन

यह मधुकर! मुख मूँदहु जाई। हमरे चित वित[6] हरि यदुराई॥

(१) बीर = भाई। (२) श्रीखंड = चंदन। (३) मृगमद = कस्तूरी। (४) बन की धातु = गेरू। (५) नारी = नाड़ी। (६) वित = वित्त, धन।

अति अज्ञान कहत कहि आयो दूत भयो वहि केरो।
निज जन जानि जतन तें तिनसों कीन्हों नेह घनेरो॥
मैं कछु कही ज्ञानगाथा ते नेकु न दरसति नेरो।
सूर मधुप उठि चल्यो मधुपुरी बोरि जोग को बेरो॥३८२॥

राग धनाश्री

माधव ! सुनौ ब्रज को नेम।
बूझि हम षट मास देख्यो गोपिकन को प्रेम॥
हृदय तें नहिं टरत उनके स्याम राम समेत।
अस्रु-सलिल-प्रवाह उर पर अरघ नयनन देत॥
चीर अंचल, कलस कुच, मनो पानि[1] पदुम चढ़ाय।
प्रगट लीला देखि, हरि के कर्म, उठतीं गाय॥
देह गेह-समेत अर्पन, कमललोचन-ध्यान।
सूर उनके भजन आगे लगै फीको ज्ञान॥३८३॥

कहँ लौं कहिए ब्रज की बात।
सुनहु स्याम ! तुम बिनु उन लोगन जैसे दिवस बिहात॥
गोपी, ग्वाल, गाय, गोसुत सब मलिनबदन, कृसगात।
परम दीन जनु सिसिर-हेम-हत[2] अंबुजगन बिनु पात॥
जो कोउ आवत देखति हैं सब मिलि बूझति कुसलात।
चलन न देत प्रेम-आतुर उर, कर चरनन लपटात॥
पिक, चातक बन बसन न पावहिं, बायस बलिहि न खात।
सूर स्याम संदेसन के डर पथिक न वा मग जात॥३८४॥

---

(१) पानि = हाथ, जिनकी उपमा कमल से दी जाती है।
(२) हेम-हत = हिम या पाले के मारे हुए।

राग केदारो

उन में पाँच दिवस जो बसिये ।
नाथ ! तिहारी सौं जियं उमगत, फेरि अपनपो कस ये ?
वह लीला विनोद गोपिन के देखे ही वनि आवै ।
मोको बहुरि कहाँ वैसो सुख, वड़भागी सो पावै ॥
मनसि, बचन, कर्मना, कहत हौं नाहिंन कछु अव राखी ।
सूर काढ़ि डार्‍यो हौं ब्रज तें दूध-माँझ की माखी[1] ॥३८५॥

चित दै सुनौ, स्याम प्रवीन !
हरि तिहारे विरह राधे मैं जो देखी छीन ।
कहन को संदेस सुंदरि गवन मो तन कीन ॥
छुटी छुद्रावलि[2], चरन अरुझे, गिरी वलहीन ।
बहुरि उठी सँभारि, सुभट ज्यों परम साहस कीन ॥
बिन देखे मनमोहन मुखरो सब सुख उनको दीन ।
सूर हरि के चरन-अंवुज रहीं आसा-लीन ॥३८६॥

माधव ! यह ब्रज को व्योहार ।
मेरो कह्यो पवन को भुस भयो, गावत नंदकुमार ॥
एक ग्वारि गोधन लै रेंगति, एक लकुट कर लेति ।
एक मंडली करि बैठारति, छाक बांटि के देति ॥
एक ग्वारि नटवर वहु लीला, एक कर्म-गुन गावति ।
कोटि भांति कै मैं समुझाई नेकु न उर में ल्यावति ॥
निसिबासर ये ही व्रत सब ब्रज दिन दिन नूतन प्रीति ।
सूर सकल फीको लागत है देखत वह रसरीति ॥३८७॥

---

(१) दूध·····माखी=दूध की मक्खी की तरह निकाल दिया ।
(२) छुद्रावलि=क्षुद्रघंटिका, करधनी ।

चूर्णिका

(बड़े कोष्ठक में पदों की संख्याएँ हैं)

[१] श्रीदामा=कृष्ण के एक ग्वाल सखा। मन्त्री=राधिका से तात्पर्य है। [२] जाए=उत्पन्न। [३] अंक=अँकवार, हाथ फैलाकर भेंटना। आने=अन्य, दूसरे को। [४] नेम=नियम, योग के विधि-विधान। [५] आन=किसी अन्य विषय में। [६] सुरति=स्मरण आने पर। हित=प्रेम। मिथ्या-जात=भ्रम से उत्पन्न। एक=अद्वैत ब्रह्म। 'सदा… नात'=उद्धव का वचन। [७] क्रम=कर्म। [८] तूलमय=रूई से युक्त। [९] धूमरि=श्यामा, काली। [१०] अबेर-सबेरो=साँझ-सबेरे। [११] परमान=प्रमाण, मान्य। [१२] हेत=प्रेम। जाए=पुत्र। काजै=के लिए। दाँवरि=रस्सी। [१३] दाम=माला। रस=प्रेम। [१४] अनुहारि=बनावट। बसन=वस्त्र। रुचिकारि=रुचिर या कारी रुचि, श्याम वर्ण। बारि=जल। [१५] सुचित=स्वस्थ। [१६] जादवनाथ=श्रीकृष्ण। बरन=वर्ण, रंग। का पर०=किसे ले जाने के लिए भेजे गए हो। सयानप=चतुरता। जानि०=भली भांति समझ लिए गए हो। [१७] उत०=वहाँ से। ब्रजराज=नंद। प्रबोध=समझाना। बोलि=बुलाकर। गुरू=गुरु की भांति। अबिगत=अज्ञेय। अगह=पकड़ में न आनेवाला। आदि अवगत=सर्वप्रथम ज्ञात। निरंजन=माया-रहित। रंजै=सब उसीके कारण शोभित होते हैं ('यस्य भासा विभाति')। निगम=शास्त्र। रसाल=रसमय। छाके=मस्त। हुतो=था। [१८] आहि=है। बासर-गत=दिन बीतने पर। [१९] सकट=रथ। रजक=धोबी। हति=तोड़कर। गज=कुबलयापीड़ हाथी। मल्ल=मुष्टिक और चाणूर नाम के पहलवान। मातुल=मामा (कंस)। [२०] उपासी=उपासिका। [२१] जोग-अंग=अष्टांग योग। ईसपुर=

शिव की पुरी। [२२] मही=मट्ठा। [२३] हाटक=सोना। साहु=महाजन। दाख=द्राक्षा, अंगूर। [२४] मुक्ताहल=मुक्ताफल, मोती। निरबै है=साधेगा। [२५] बनजारा=व्यापारी, सौदागर। गति=शरण। पति=प्रतिष्ठा। राँड़े=जिनके और कोई न हो, एकाकी। [२६] लोक०=लोक मर्यादा। कुल०=कुल की प्रतिष्ठा। [२८] नातरु=नहीं तो। बरनहीन=हीनवर्ण। [२९] सागर निधि=महासमुद्र। कुलिस=वज्र। [३१] सूर=शूर, वीर; सूरदास। [३२] अनत=अन्यत्र। [३५] मुँडली=जिसके सिर में केश न हों। पाटी पारना=माँग काढ़ना। कौन पै=किससे। नरियर०=भेंट के लिए आप जो योगरूपी विषैला नारियल लाए हैं उसे प्रणाम ही करते बनता है। [३६] सिरात=ठंढा होता है। हार्‍यो=हर लिया। आई०=जैसे आम की खटाई से कलई खुल जाती है वैसे ही प्रेम का भेद खुल गया। बिलग०=बुरा मत मानो। भँवारे=घूमनेवाला। पखारे=धोए। ता गुन=इसी से। [४०] हित-हानि=प्रेम का त्याग। [४१] काहि जोग=किसके योग्य। [४२] राची=अनुरक्त। सिकत=सिकता, बालू। [४३] काके०=किसे जँचेगा। [४४] बदन=मुख। बपु=शरीर। सहाई=सहायक, मित्र। [४६] हित=हेतु, निमित्त। अयानि=अज्ञान। छाजन=स्वाँग। सरत=बढ़ता है, लपकता है। भाजन=भागना, जाना। [४७] दाप=दर्प, रोष। [४८] सीस=सिर पर, निकट। [५१] दसहि=दशा को। तिसहि=उसे। [५२] सौं तुख=प्रत्यक्ष। [५३] अवरोधन०=प्राणायाम। [५५] नइ=नीति। जाति०=खो जाती है। आरति=आर्ति, दुःख; यहाँ अप्रतिष्ठा का खेद। [५७] ताती=गरम। सँघाती=साथी। [५८] तरल=चंचल, हिलते हुए। तरिवन=ताटंक, कान का गहना। [५९] तर=नीचे। [६१] पचत=परेशान होता है। कहा उघारे=खोलने से क्या लाभ। बिलमावत=रोकते हो, आराम देते हो। कापै=किससे। [६२] राजपंथ=राजमार्ग, (सगुण का) चौड़ा रास्ता। धौं=कदाचित्। समृति=स्मृति शास्त्र। कहँ धौं=कहाँ भी। छाछ=मट्ठा।

मूर = मूलधन। [६३] और० = कहीं दूसरे पर टिकें। प्रेमहिं० = प्रेम के संबंध से। [६५] अछत = रहते। [६६] पदारथ० = यद्यपि वह मुक्ति चार पदार्थों (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) में से है। [६८] दूत = इधर की उधर लगानेवाले। [६९] ज्यों अहि० = काट लेने से साँप का पेट नहीं भरता पर उसकी यही बान होती है। [७०] भूत० = आकारहीन, छायामात्र। अँचवत = पीते हैं। [७१] रमत = मग्न होते हैं। भाजत० = भागते और छिपते रहते हैं। समाने = आए। [७२] झाँई = प्रतिबिंब। मुकुर = दर्पण। त्रिकट = टेढ़ी। होत त्रिभंग = गले, कमर और पैर पर से टेढ़े होकर। मुकुतमाल = मोती की माला। [७३] गनि = समझकर। गुन = गुण की सीमा, अत्यन्त गुणयुक्त। बिधि-बंधान = ब्रह्मा की रचना। अवतंस = कान का आभूषण, कुंडल। भान = भानु, सूर्य। रुचि = शोभा। कंबु = शंख। उदार = चौड़ा। मनि = मणि, कौस्तुभ। निर्तत = नाचती है, चमकती है। [७४] अंबर = वस्त्र। सर-पंजर = बाणों का घेरा। अमी = अमृत। जैसे सूर० = साँप काटकर भागता है तो क्या उसके मुख में अमृत की बूंद पड़ जाती है! [७५] कन = दाना। चोप = चेंप, लासा। करि = कर, हाथ। लूक = लू। कलप० = कल्पवृक्ष, सुख। [७६] मदन० = काम के बाणों से विद्ध। [७७] सगुन लै = शकुन विचारकर। ये सब = योग, जप, व्रत आदि। विष-बेली = कुब्जा। पायँन० = पैरों के नीचे करके, तिरस्कार करके। मेली = डाली। [७८] सकुचासन = संकोचरूपी आसन पर बैठकर। परस करि = छूकर, दान करके, त्याग करके। पवन० = प्राणायाम। क्रम = कर्म। निकंदन = नाश। तरनि = सूर्य। अपजस० = अपकीर्ति सुनी अन-सुनी कर देती हैं। प्रकास = ब्रह्मज्योति दर्शन। चन्द्रसूर = चन्द्रमा और सूर्य का प्रकाश (योगी इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों के मूलप्रदेश में क्रमशः चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि का सा प्रकाश मानते हैं)। अनहद = अनाहत शब्द। प्रमाने = मान, समान। समाने = ब्रह्मानन्द में लीन होने की अवस्था। [८०] असित = काले। गौं = घात। [८१] हो = था।

धौं = न जाने। तों = था। बारिज० = कमलनाल तोड़ने से उसमें जो बहुत पतले तंतु निकलते हैं। जहाँ तो = जहाँ से। [८२] अँचै० = पी गई। [८३] निगम = ब्रह्मज्ञान। परेखो = विश्वास। काल-मुख० = काल के मुख से बचाकर फिर उसी में डाल दिया। घनसार = कपूर। [८७] कमलनयन = श्रीकृष्ण। घाली = भेजी। द्वार ह्वै = द्वार पर से। केतिक = कितनी ही। साली = पीड़ा करने लगी। [८८] बदन० = मुखचन्द्र। मनिदुति = सूर्यकांत मणि। [८९] कागर = कागज। सर = सरकंडा (जिसकी कलम बनती है)। अरे = बंद। [९०] कबंध = धड़ (शूरों का धड़ सिर कट जाने पर भी लड़ता रहता है और भारी मारकाट मचाता है)। बल = बलपूर्वक। बारुहि० = बालू की दीवार। [९१] अंतर्गत = मन में। भाव० = प्रेमपूर्वक। [९३] बई = लगी। ठई = की, बनाई। [९४] राज-गति० = राजनीति। [९६] मनसाहू = इच्छा तक। चेति = विचार करके। एति = इतनी, ऐसी। [९७] सतरात = चिढ़ता। ब्रजलोचन = श्रीकृष्ण। [९८] निमेख = पलक। अहनिसि = अहर्निश, दिनरात। उघारे = नग्न। [९९] पास = फंदा। रहत न० = नेत्रों से जल गिरना रुकता नहीं। [१००] स्रमजल = पसीना। अंतर-तनु = भीतर तक, भली भांति। नलिनी = कमलिनी। हिमकर = चन्द्रमा। [१०१] पुरइनि = (पद्मिनी) कमल। पान = पत्र, पत्ता। मिलाइए—'पद्मपत्रमिवाम्भसा'। परागी = अनुरक्त। पागी = चिपटना। [१०३] घट = शरीर। [१०४] पूरब लौं = पूर्व की ओर, मथुरा। मसान जगाना = शव पर बैठकर तंत्रशास्त्र के अनुसार सिद्धि प्राप्त करना। [१०५] कुहित = बुरी। उपचार = दवा। धुन = रंगढंग। [१०६] चपरि = शीघ्रता से, एकबारगी। कुंतल = केश। भुरै लई = ठग लिया। निरस० = रसहीन हो गई। करखे तें० = खींचने पर भी हटी नहीं। घनस्याम = श्रीकृष्ण; बादल। छिजई = घिस डाली। [१०८] मधु = शहद (का छत्ता)। पानि = हाथ। पलक० = हाथ से पलकें मल रही थी, जगने का प्रयत्न कर रही थी। निरोध = रोक-छेक। निबरे = निकलकर जा सके। कृपन० = कृपण

का सा व्यवहार (केवल जोड़ती रही) [१०९] बहावै=त्याग दे। [११०] हित=अच्छा, रुचिकर। माहे=में। दाहै=जलन से। [१११] अब किन०=बेचकर दाम क्यों नहीं खड़े कर लेते। सबरी=सब। [११२] रूख=वृक्ष। [११३] गुनैबो=गुणयुक्त बनाने से। अनखात=बुरा मानती हैं। तन=ओर। बिहात=बीतता है। [११४] स्याम=श्रीकृष्ण और काला। बिरद किए=यश गाया। स्रुति=वेद। बारिज-बदन०=मेरे नेत्ररूपी भ्रमर श्रीकृष्ण के कमलमुख का मधुपान कब करेंगे, उनके दर्शन कब होंगे? [११५] कूजत=बोलती है। सिंगी=सींग का बाजा। पखान=(पाषाण) शिला, पत्थर। [११६] काढ़्यो=खींचा, बनाया। [११७] ऊजर=उजड़े हुए। [११८] अनुसारी=छेड़ी। अहि०=जैसे सांप केंचली छोड़ देता है वैसे मन शरीर को छोड़कर चला गया। [११९] बोहित=जहाज, बड़ी नाव। [१२०] तुम्हरे०=तुम्हें ही फबती है। नरियर-ज्यों=देखिए पद ३५ की टिप्पणी। [१२१] परेवा=कबूतर। कंटक०=स्वयं कांटे की चोट सहता है। निरुवारै=निवारण करते हो, हटाते हो। [१२२] अपाने=अपने। निदाने=अंत में। [१२४] दुसह धुनि=असह्य ध्वनि (कानों को)। [१२५] बिसाहु=मोल ले लें। [१२६] आनि०=आकर आशा को भी निराशा में परिणत कर दिया। [१२७] ओछो तोल=तौल में कम, हलका। जाति=संप्रदाय, मंडली। [१२८] त्रिदोष=संनिपात। जक=बकवाद। थिरकै=स्थायी रूप से। [१२९] पवन धरि=प्राणायाम करके। [१३१] बरन=वर्ण, रंग। [१३२] आँधरी०=अंधी यदि अंजन लगाए। [१३३] पय०=बैल से दूध दुहते हो। [१३४] मोट=गठरी। कर करि=हाथ से। मृगमद=कस्तूरी। मलयज=चंदन। उबटति=मलती थी। तृप्ताति=तृप्त होंगी। [१३५] खरि=खड़िया। [१३७] गुपुत=भेद, रहस्य। [१३८] पुहुमि=पृथ्वी। भरमात=घूमता है। अघात=तृप्त होती है। अमृत फल=मीठे फल। [१३९] खरियै=अत्यंत। सुधि०=उसे भूलने की वृत्ति ही भूल गई अर्थात् वह भूलता नहीं। आँक=अंक,

गोद। खटकती है=कसकती है। [१४१] नए=झुके। उनतें=उनसे बढ़कर या बड़ा। [१४२] बकसियो=क्षमा करना। बौर=मंजरी। [१४३] तन=ओर। धौं=तो। परमारथ=परमार्थ रूपी औषध। राजदोष=प्रबल रोग। [१४४] अनुदिन=प्रतिदिन। [१४६] दै गए=दिए हुए गए। [१४७] बापुरे=बेचारे। छार=धूल। [१४८] आयसु=आदेश, आज्ञा। वारि०=निछावर करके। नव०=नौ टुकड़े करके, टुकड़े टुकड़े करके। [१४९] तर=नीचे। सचु=सुख। [१५१] सुखेत=रणक्षेत्र। वारि=पानी; चमक। [१५२] बाय=बात-विकार। पयनिधि=समुद्र। [१५३] अरे=अड़ गए हैं। राचे=अनुरक्त। वक्र०=अत्यंत टेढ़े। सीतल=जिनके संचार (ध्यान) से हृदय ठंढे हो गए हैं। अमिय०=अब ये अमृत से विष में जा पड़े। [१५४] बढ़वत०=उसकी ओर काला सर्प क्यों बढ़ाते हो। हारे=विवश होने पर। अछत=रहते। [१५५] फूलेल=सुगंधित तेल। ग्रथैं=गाँठें। आघोरी=भारी। ताटंक=कान का गहना। जोति=शोभा। सार=घनसार, कपूर, असवास=(आश्वास) सुगंधित साँस। आक=(अर्क) मदार। [१५६] अधिकारे=अधिक। सारे=तत्व। खारे=कडुए। [१५७] बायस=कौआ। अँचयो=पिया। बजी०=एक ही ढंग के बाजे बजे, सब एक ही रंगत के हैं। ताँति=तंत्री, बाजा। [१५९] कनियाँ=गोद। [१६०] कलेवर=शरीर। खौरी=लेप। पिछौरी=दुपट्टा। [१६१] ज्यों भुवंग०=जैसे उस सर्प की फूँक जिसकी मणि छीन ली गई हो। दवा=भीषण ज्वाला। [१६२] अंबर=अच्छे वस्त्र। गुरु०=जो योग के हमारे गुरु हैं वे कुब्जा के हाथ की माला हैं। उसके इशारे पर नाचनेवाले हैं। [१६३] दाम=रस्सी। पानि=हाथ। चोरी०=चोरी न खोलूँगी। आनि=आकर। हठिहौं=न देने का हठ न करूँगी। जावक=महावर। बट-तर=बरगद के नीचे। सैंकेत=संकेतस्थल। चढ़ाय=बैठाकर। [१६७] निरखि०=उसे देखकर अश्रु की अखंड धारा बहने लगी। प्रेम०=प्रेम की व्यथा फिर भी न

बुझी। अंतर-गति=हृदय के भीतर। सुचित=स्वस्थ होकर। कमल=योगियों के षट्चक्र जो कमल के रूप में माने जाते हैं। [१६९] लाइ=मन लगाकर। सुमति मति=अच्छी बुद्धि। पै=निश्चय। [१७०] गात=गाते हुए। सुनात=सुनाते थे। परसात=छाई है। [१७२] सिंघी=सींग का बाजा। [१७३] लहनौ=प्राप्य। बर=दूल्हा, पति, प्रिय। सँघाती=साथी, सखा। [१७५] सरै=(सूर्य के रथ की ओर) जाता है, उसे प्राप्त करता है। [१७६] बल्लभी=प्रेमिका। मधुर=जो मीठी बोली बोलनेवाले हैं। बृक=भेड़िया। बच्छ=वत्स, बछड़े। असन=भोजन। बसन=वस्त्र। सत=शत, सैकड़ों। [१७७] बरस=बर्षा करता है। कर०=हाथ में कड़ा और दर्पण लेकर (कड़ा ढीला पड़ गया है। दर्पण में मुख विवर्ण दिखाई पड़ता है)। एतो मान=इतना अधिक कष्ट सहने पर भी। [१७८] सहियो=सहना। मकरध्वज=काम। बहियो=अश्रु-प्रवाह के कारण। [१७९] पय=जल। पय सों=पानी से भी आग लग रही है। हा हरि०='हा हरि, हा हरि' जो कहती हैं उसी मन्त्र के पढ़ने के कारण इस आग में जलकर भस्म नहीं होतीं। [१८०] गहरु=देर, बिलंब। [१८१] कहा बनैहैं=क्या बात गढ़ लेंगे। अब हम०=हम चुपचाप वहां पत्र लिख देंगी कि ये तो गोकुल के अहीर हैं, वह पत्र उन्हें मिलेगा भी नहीं। [१८२] रूपहरी=हरि का रूप, सारूप्य मुक्ति। सुक=शुकदेव। स्यामा=युवती स्त्री। [१८४] भनै=कहे। कह०=क्यों उन कानों में कंकड़ी की चोट करते हो। रंग चुनै=प्रत्न करने पर भी। [१८६] बकी=पूतना। दोषन=दोष अर्थात् विषमय हो जाने से। तृनाव्रत=तृणावर्त। केसी=केशी नाम का दैत्य। [१८७] घाए=घात, चोट। कहि०=कहना पड़ा। [१८८] रसाल=रसमय, कर्णसुखद। तरनि०=सिर का तिलक सूर्य की भांति दाहक है। भुवाल=भूपाल, राजा। [१८९] बहिबी=निर्वाह करना। [१९०] दासनिदासि=दासानुदासी, दासों की दासी। [१९१] चेत०=बेसुध अवस्था। रेती=बालू का मैदान। [१९३] अव-

गाहैं० = दुःख में डूबती हैं। [१६४] स्यामसूल० = श्रीकृष्ण की पीड़ा में पगा हुआ। ऋषि = शुद्ध 'ऋजु', सीधा। [१६६] पुलिन = तट। [१६७] बिरह-बीज = बिरहमय। सलिल० = अधर-माधुरी के जल में मिलाकर। बल न० = औषध का कोई बल नहीं लगता, औषध काम नहीं करती। सरै = हो। [१६८] हे = थे। दाम = रस्सी से। पति = प्रतिष्ठा। रसनिधि = आनन्द के सागर। [१६९] नेह-नग = प्रेमरूपी रत्न। बुझानी = समझ में आई। [२००] हमरे० = हमारे गुण गाँठ में क्यों नहीं बाँधे, हमारे गुणों का विचार क्यों नहीं किया। [२०१] देह० = शरीर दुःख की सीमा नहीं पाता, दुखों का अन्त नहीं मिलता। [२०२] आन = शपथ। आमिप = मांस। हित = प्रिय। किंगरी = छोटी सारंगी, चिकारा। सुर = ध्वनि। लग = तक। ब्रजभान = ब्रज-भानु, श्रीकृष्ण। [२०४] चाली = छेड़ी। साली = थँमी। ब्रजबाली = ब्रज की बालाएँ। [२०५] इतने = इतने पक्षी। प्रतिपारे = पाला-पोसा। बिडारे = नष्ट कर दिए। कीर = नासिका। कपोत = गर्दन। कोकिला = वाणी। खंजन = आँखें। [२०६] सतवर = शीघ्र। मधु-रिपु = श्रीकृष्ण। जगी = जागरण। क्राथ = काढ़ा। मूरि = जड़ी। सुख = अनुकूल, लाभदायक। [२०८] निबर्ति=पूजा करके। [२१०] अराध = आराधना करे। बरीस = वर्ष। पुरवौ = पूर्ण कर दो। [२११] रीते = रिक्त, खाली। कारन = कालों की। फेरनि = लपेट, पहनावा। घेरनि = एकत्र करना, चराना। कर = कड़ा। [२१३] घोष = ग्वालों का गाँव। संपुट = बन्द। दिनमनि = सूर्य। [२१४] रथ पलान्यो = रथ पर चढ़ कर गए। [२१७] पाहन = (पाषाण) पत्थर, कठिन। [२१८] जावदेक = यावन्मात्र, सबको। [२१९] चित० = मन। [२२०] विधि० = ब्रह्मारूपी कुम्हार। घट = घड़ा; शरीर। दरसन० = देखने की आशा ही घड़ों का फेरा जाना है। कर० = श्रीकृष्ण के काम आए, उनके लिए शकुन-सूचक हुए। [२२१] काती = कत्ता, छुरा। सयानी =

स्वाती [२२२] निसि लौं = रात भर। सीति = शीत, ठंढा। पुरवा = पूर्व से आनेवाली वायु, पुरवैया। गए० = उसने हमारे शरीर सरलता से जीत लिए हैं। [२२३] चौरासी = अनेक प्रकार की। हरि = हरकर। [२२४] लोकडर०=हमारा प्रेम प्रकट करने से श्रीकृष्ण को लोकापवाद का भय है (लोग कहेंगे कि ये गँवारों के साथ रहते थे)। [२२५] सो कुल = वह वंश (यादवों का), जिससे जन्म लेने पर बिछुड़ गए थे। गर्ग० = गर्ग ने कहा था कि श्रीकृष्ण मथुरा और फिर द्वारका में जा बसेंगे। जो कुल = वह सब। ज्ञाति = जाति। [२२६] अनहद = अनाहत नाद। कुष्मांड = कुम्हड़ा। अजा = बकरी। अघाना = तृप्त होना। [२२७] न परानी = नहीं हटी। चलमति = चंचल बुद्धिवाला। घेरि० = छेंकते फिरते हैं। [२२८] पति = प्रतिष्ठा दुरहु = हटो। बसीठ = दूत। मति-फेरी = बुद्धि का फेर। कै सँग = मिलकर, जुड़कर। श्री निकेत० = शोभा के घर। पानि = हाथ में। बिषान = सींग। [२३०] नवतन = (नूतन) नए ढंग से। राचे = अनुरक्त हुए। रनछोर = श्रीकृष्ण [२३१] कारे = काले; मालिन, कपटी [२३४] ऐन = घर। [२३५] कोय० = कौन स्त्री थी। राजपंथ = राजमार्ग (भक्ति का चौड़ा मार्ग)। उरझ = उलझानेवाला। कुबील = ऊबड़-खाबड़, ऊँचा-नीचा। अज = बकरा। बदन = मुख। [२३६] कुमोदिनि = कुईं। जलजात = कमल। घनसार = कपूर। जीरन = जीर्ण, पुराना [२३७] बिदमान = विद्यमान, उपस्थित। [२३८] स्यंदन = रथ। बाय० = वात-व्याधि से पगली सी होकर। [२३९] कुम्भ = घड़ा। जलचरी० = बेचारी मछली। [२४१] धूरि = मिट्टी, व्यर्थ [२४३] कुबजा० = कूबरी के प्रेम में मतवाले। लेस = थोड़ा भी। हरिखंड = मोरपंख। स्यामा = षोडशवर्षीया युवती स्त्री, राधिका। कछु० = सुध-बुध खो गई। प्रबाल = नए निकले कोमल पत्तों की भाँति। ततछन = तत्क्षण, तुरन्त। सुहेस = मंगल। सुरेस = इन्द्र। रस = आनन्द से

अमित गतिवाले होकर, आनन्द में मग्न होकर। सेस=शेषनाग। [२४४] अङ्गराज=सुगन्धित लेप। मेदिनी=भूमि। [२४६] बरन=वर्ण, रंग। बाने=ढंग के। मीड़ि=मलकर। [२४७] समतूलहु= समान। [२४८] बास० = वासस्थान। मन्दे=मन्दे बाजार में। [२४९] कहु०=उसे भस्म लगाने से कैसे सुख मिलेगा। [२५०] चाँड़=अभिलाष। बिसासि=विश्वासघाती। तीजो पंथ=तीसरा पन्थ (मुरारेस्तृतीयः पन्थाः)। यह=ऊधो। साधु=सज्जन, सीधा। [२५२] कटु=कड़वी। अङ्गनिधि०=श्रीकृष्ण के सगुणरूप के समुद्र से। अनमिल=बेमेल (निर्गुण)। अमोलत=अमूल्य या बहुमूल्य ठहरा रहे हो (सगुण से निर्गुण को बढ़कर बतला रहे हो) [२५३] अतीत=परे। [२५५] स्याम-तन०=श्रीकृष्ण की ओर देखकर, उनका विचार करके। [२५६] बारे=बालपन से ही। [२५७] अगाऊ= आगे आगे। [२५८] कचोरा=कटोरा। तार्टक, खुभी, खुटिला= कान के गहने। फूली=फूल, लौंग (गहना)। सारी०=कमल और चन्द्र से अंकित साड़ी। सारस=कमल। गूदर=फटी। [२५९] भेद०=पता न चला। बदन को=कहने के लिए, निश्चित करने। बायु०=प्राणायाम। ताए=तपाए। [२६०] सँचि०=एकत्र कर रखी थीं। छार=धूल। सरवरि०=कूबरी के योग्य। घटी०=बुरा किया। हम जोही=हमें देखते रहे, हमें ग्राहक समझते रहे। [२६१] राहत=रहते हैं। कोट=बाँस की कोठी। [२६२] परेखो=पछ-तावा। बारे=छोटे। भीर=संकट, कष्ट, कठिनाई। सरयो=पूरा हुआ। बायस०=कौए का भाई, कौआ। [२६३] पत्यानो=विश्वास किया। [२६४] करेसायल=मृग। अविधि सों=अन्याय से। [२६५] सूर=शूर, वीर; सूरदास। [२६७] बारक=एक बार। [२६८] सोधियो०=उनसे पूछना। घात=हत्या। [२६९] ज्यों०=जैसे माता अपने जने बच्चे का पालन करती है। [२७०] गुर०=गुड़

दिखाकर बहलाओ। कोऊ० = किसी प्रकार। [२७१] अन्तरमुख = भीतर। पांडु० = कामला रोग जिसमें शरीर पीला पड़ जाता है। उजरो = उजड़ा हुआ। छपद = भ्रमर। [२७२] मदिरा० = शराब पीकर। पराग० = पराग की पीक की रेखा। कुंभ० 'विषकुंभं पयोमुखम्', विष का भरा घड़ा, जिसमें ऊपर दूध हो। उघारे = खोले। कृत कर्म से। [२७४] पुहुप = पुष्प। नेरे = निकट। [२७५] पिछौं हैं = पीछे की ओर। उर० = जब छाती छेदकर पीछे जा निकले। पाछे० = पीछे हटते हुए भागे नहीं। कबंध = धड़। संमुख० = सामना करने, भिड़ने के लिए। [२७६] चिहुर = चिकुर, केश। यह० = इस प्रकार से। नयन० = नेत्रों की इच्छा पूर्ण करते हुए। बटमारे = डाकू, चोर। [२७७] कागर = कागज, पत्र। [२७८] पंक० = कीचड़ ही मैली साड़ी है। ब्याज = बहाने से। अनुहारी = समता। [२७९] भीति = दीवार। [२८०] हठिहि = हठपूर्वक। प्रवेसनि = जल की धारा के प्रवेश से। बिसेषनि = विशेष रूप से। [२८१] धावन = दूत। कहा० = क्या वश है। बल = बलदाऊ। [२८२] दादुर० = माना जाता है कि वर्षा के प्रथम जल से मरे हुए मेढक जी उठते हैं। निविड़ = घना। [२८३] सारँग = चातक। सूरमा = वीर। [२८४] खरे = तीव्र। [२८५] इते मान = इतना अधिक। अन्त = मार मत डालो। [२८६] सिंधुतीर = द्वारका में। [२८७] बयन = वचन, बोली। भीषम = भीष्म पितामह की भाँति। डासि = बिछाकर। दच्छिन० = भीष्म पितामह जब युद्ध में घायल हुए तब सूर्य दक्षिणायण थे, उत्तरायण होने पर उन्होंने प्राण त्यागे। उन्हें इच्छामरण का वरदान था। [२८८] निमेष० = पलकरूपी तट। गोलक = पुतली। तट = ओठ और कपोल ही तट का मैदान हैं। [२८९] पोच = बुरा (सोच का विशेषण)। [२९०] एक अङ्ग = (एकांग) केवल, निरन्तर। ज्यों मुख० = जब वह पूर्ण मुखचन्द्र सामने था। रई = रँगी, डूबी। सकति = शक्तिभर। [२९१] सारि =

निकालकर, पूरा करके। [२६३] कुहू = अमावस्या। तमचुर = ताम्र-चूड़, मुर्गा। [२९६] आरि = अड़, मुद्रा। बसन = वस्त्र। दसन = दाँत। [२९७] बह्नि = आग धारण करता है। छपा = रात्रि। [२९८] मोपै = मुझसे। भख = काट न ले। [२९९] दुख० = वृक्षों का गिरना हीं दुख है। सिव = स्तन। [३००] तन-दगध = शरीर का जलना। [३०१] सन = से। [३०३] सोध = पता। गहरु = विलंब। अम्बर = आकाश। [३०७] सीरे = ठंडे। सूरमा = चीर। [३१०] राम कृस्न० = बलराम और श्रीकृष्ण के कारण किसी को कुछ नहीं समझती थी। [३११] चिलक = शुद्ध 'तिलक', एक वृक्ष जो वसंत में फूलता है। मृगपशु = पशुजाति। बलित = युक्त। [३१३] दागर = नाशक। [३१५] साधौ = उत्कंठा। [३१७] पच्छ = पँख; पलक। अम्बु = जल; आँसू। अमृत = अधरामृत। कीर = सुग्गा, नासिका। कमठ = शुद्ध 'कमल', मुख या नेत्र। कोकिला = वाणी। [३१८] मूल संस्कृत श्लोक यह है—जटा नेयं वेणी कृतकचकलापो न गरलं, गले कस्तूरीयँ शिरसि शशिलेखा न कुसमम्; इयं भूतिर्नाङ्गे प्रियविरहजन्मा धवलिमा, पुरारातिर्भ्रान्त्या कुसुमशर! किं मां व्यथयति। [३२४] छपाकर = चन्द्र, मुख। सारस = कमल। [३२६] परेखो = सोच। पौरि = द्वार। [३२८] उमापति = शिव। सोध० = पता पा गया। दसन० = दाँत से काटने का। नैनन० = खारा होने से। [३३०] भवभूति की रचना यों है—धत्ते चक्षुर्मुकुलिनि रणत्कोकिले बालचूते, मार्गे गात्रं क्षिपति वकुलामोदगर्भस्य वायोः; दावप्रेम्णा सरसबिसिनीपत्र-मात्रोत्तरीयः, ताम्यन्मूर्तिः श्रयति बहुशो मृत्यवे चन्द्रपादान्। [३३२] उवारी = खुली। सलाका = सलाई (अंजन लगानेवाली)। आरति = दुःख। [३३५] हंस = परमहंस, ब्रह्मज्ञानी। [३३७] फैसे = समान। आगरे = बढ़कर। [३३८] जल० = जल में शीशी डुबाने से बुल्ले निकलते हैं। बार = देर। [३४०] पास = पाश, जाल।

सायक=बाण । दवा=दावाग्नि । [३४१] अभास्यो=प्रकाशित हुआ। सुमन=सुगंधित तेल, फुलेल । रहि=रुके नहीं । निरंजन= निर्लिप्त । सलभ=फतींगे । करम की=उत्तम । [३४३] धार वही= तलवार चली । [३४८] परी=गिरी, पृथक् हुई । बहिबो=बहना नहीं रुकता । उपचार०=हमारा क्या उपचार हो, कष्ट किस प्रकार दूर हो । [३४६] श्रासी=खानेवाले । [३५०] आहु=हो । भोरो= ठगते हो । साहु=साधु, महाजन, वणिक् । [३५१] चारी=चारों मुक्ति (सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य, सारूप्य) मारग०=रास्ते पर श्राइए । [३५५] ही=थी । छपद=भ्रमर । दई=ईश्वर का भी डर नहीं । [३६०] सुपारना=समझाकर कहना [३६२] कुसुँभ=हलका लाल । करनि=अपने हाथों । [३६४] दोष=जोड़ की त्रुटि । काँजी= खट्टा । दिगम्बर=नंगे लोग । रजक=धोबी । [३७१] नँदलाल०= श्रीकृष्ण से । ही=थी । ढही=गिर पड़ी । [३७५] तातो=तप्त, गरम । करम०=धीरे धीरे, क्रमशः । [३७६] आगो लेना=सेवा करना । राम=बलराम । [३७७] गिरहिनी=गृहिणी, पत्नी (देवकी) । परिधान=वस्त्र । [३७६] विकट=टेढ़ी । कल=मधुर । उडुगन= तारे । पदिक= माला में बीचोंबीच का बड़ा गहना । दारा=पत्नी । राम०=रामजन्म के तपस्वी, रामावतार में तपस्या की थी । मोट= गठरी । [३८०] व्याज=बहाने से । हम०=मुझ दास का वश नहीं चलता । [३८२] नेरो=निकट । बेरो=बेड़ा, नाव । [३८४] बायस०= कौए को वे पति के आगमन का शकुन विचारने के लिए उड़ा देती हैं । [३८५] कस=कैसा । फेरि०=बेसुध हो जाना पड़ता है । [३८७] छाक=कलेवा । [३८८] परिहस=खेद । [३८६] अगाऊँ=पहले ही । कंथा=कथरी, गुदड़ी । षटदरसी=षट्शास्त्री, छहों शास्त्रों का ज्ञाता । [३६१] बार न०=गोपियों को सिखा-पढ़ाकर लौटने में इसे देर न लगेगी, मुझे तो देर लगी । [३६२] खरिक=गायों के रहने का स्थान, गोशाला । जाहीं=जिसमें । निबाहीं=निर्वाह किया, सहा ।

——*——

साहित्य के अनूठे ग्रन्थ।

विनय-पत्रिका सटीक—गो० तुलसीदास कृत (टी० श्री वियोगीहरि

आख और कविगण—(सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी)

बिहारी-सतसई, सटीक—(टीका०—स्व० लाला भगवानदीन जी) ३।)

तुलसी-सूक्ति-सुधा—गो० तुलसीदास जी के समस्त ग्रन्थों की सूक्तियों का सार है। (श्रीवियोगी हरिजी) २॥)

गुलदस्तए बिहारी—(ले० देवीप्रसाद 'प्रीतम') बिहारी-सतसई के दोहों पर रचे हुए उर्दू शेरों का संग्रह। यह मूल से भी अधिक रोचक है। १॥)

तुलसी-चिकित्सा—इस छोटी सी पुस्तिका के सहारे तुलसी की सहायता से ही अपने अनेक कठिन रोगों की सफल चिकित्सा कर सकते हैं, यह पुस्तक प्रत्येक मनुष्य के बड़े काम की है। ।।।)

दुग्ध-तक्रादि चिकित्सा— ... ... १)

भावना—प० गद्य-काव्य मुर्दे को जिलाने के लिये अमृत है। (श्री वियोगी हरिजी) ।।।)

अनुराग वाटिका—इस पुस्तक में वियोगी हरिजी प्रणीत व्रज-भाषा की कविताओं का संग्रह है। कविता के एक-एक शब्द में अमूल्य रत्न है। ⁄)

प्रेत-साहित्य—(पं० प्राणपखेरू 'प्रेत') हास्यरस की अनुपम कहानियाँ १)

प्राणेश्वरी—(उपन्यास) १)

बाग में रहस्यपूर्ण हत्या—(उपन्यास) १।)

पद्माकर की काव्य-साधना—(ले० श्री अखौरी गंगाप्रसादसिंह जी) २।)

रहीम-रत्नावली—(सं० पं० मयाशंकर याज्ञिक बी. ए.) रहीम की आज तक की प्राप्त कविताओं का अनोखा और सबसे बड़ा संग्रह। २)

मिलने का पताः—शारदा-साहित्य-सदन, दूधविनायक, बनारस।